हिन्दी
त्रैमासिक

रामकृष्ण
मिशन

विवेकानन्द आश्रम रायपुर

विवेक - ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

जुलाई – अगस्त – सितम्बर

★ १९७५ ★

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक

ब्रह्मचारी देवेन्द्र

वार्षिक ५)

एक प्रति १।।)

आजीवन सदस्यता शुल्क– १००)

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर ४९२-००१ (म.प्र.)

फोन : ४५८९

अनुक्रमणिका

—।०।—

कवर चित्र परिचय — स्वामी विवेकानन्द

कलकत्ते में बोसपारा निवास भवन में, फरवरी १९०१

मुद्रण स्थल : नरकेसरी प्रेस, रायपुर (म. प्र.)

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष १३] जुलाई - अगस्त - सितम्बर ★ १९७५ ★ [अंक ३

संसार मन की कल्पना मात्र

सुषुप्तिकाले मनसि प्रलीने
नैवास्ति किंचित्सकलप्रसिद्धेः ।
अतो मनःकल्पित एव पुंसः
संसार एतस्य न वस्तुतोऽस्ति ॥

—सुषुप्ति-काल में मन के लीन हो जाने पर कुछ भी नहीं रहता—यह सबको विदित ही है। अतः इस पुरुष (जीव) का यह संसार मन की कल्पना मात्र ही है, यथार्थतः नहीं।

—विवेकचूड़ामणि, १७१

जग माया का खेल

एक समय देवर्षि नारद ने भगवान् जगन्नाथ से प्रार्थना की, "प्रभो ! मैं आपकी अघटनघटना-पटीयसी माया का खेल देखना चाहता हूँ ।" पहले तो नारायण ने देवर्षि को समझाने की कोशिश की कि माया को न देखो, तो ही अच्छा; पर जब देखा कि नारद को माया देखने की प्रबल इच्छा है, तो उन्होंने हामी भरी। एक दिन भगवान् नारायण देवर्षि को साथ ले घूमने निकले। कुछ दूर जाने पर उन्हें बड़ी थकान लगी और प्यास भी जोरों से लगने लगी। वे सुस्ताने के लिए बैठ गये और नारद से बोले, "नारद ! मुझे बड़ी प्यास लगी है, कहीं से मेरे लिए थोड़ा पानी ले आओ।" यह सुनते ही नारद पानी लाने के लिए छूट पड़े।

समीप में कहीं पर पानी नहीं मिला। पानी खोजते खोजते वे दूर निकल गये। दूर उन्हें एक नदी दिखायी दी। जब वे नदी के पास पहुँचे, तो वहाँ उन्होंने एक अत्यन्त सुन्दरी बाला को बैठे देखा। वे तुरन्त उसके सौन्दर्य के प्रति आकर्षित हो गये। ज्योंही वे उसके निकट पहुँचे, उस बाला ने अपनी मन्द-मधुर मुसकान और चितवन से उन्हें अपने वश में कर लिया और थोड़ी ही देर में दोनों एक दूसरे के प्रेम में पड़ गये। नारद फिर रह न सके, उन्होंने उस बाला से विवाह कर लिया और गृहस्थी बसा ली। समय पाकर उससे नारद के कई सन्तानें हुईं। उनके दिन बड़े आनन्द में ही कट रहे थे कि अचानक देश में महामारी फैल गयी। लोग घर-गाँव छोड़कर भागने लगे।

नारद ने भी अपनी पत्नी के पास देश छोड़कर अन्यत्र जाने का प्रस्ताव रखा। पत्नी मान गयी और वे दोनों बच्चों को साथ ले घर से बाहर निकले। जब वे लोग पुल पर से नदी पार कर रहे थे कि अचानक जोरों की बाढ़ आयी, जिससे पुल टूट गया और नारद के सभी बच्चे नीचे गिरकर उफनती हुई जलधारा में बह गये। नारद की पत्नी चीखकर मूर्छित सी हो गयी। नारद ने उसे जकड़कर पकड़ रखा और किसी प्रकार बचा लेने के लिए वे हाथ-पैर मारने लगे। पर विधाता को यह भी मंजूर नहीं था। एक जोर का बहाव आया, जिसने उनकी पत्नी को उनसे अलग कर जलसमाधि दे दी और उन्हें किनारे पर फेंक दिया। इस अचानक आयी विपत्ति से विमूढ़ हो नारद बिलख-बिलखकर रोने लगे।

तभी नारायण सामने प्रकट हुए और बोले, "नारद ! पानी कहाँ है ? आधा घण्टा बीत गया, मैं प्यासा खड़ा हूँ। और भला तुम रो क्यों रहे हो ?"

"आधा घण्टा ?" नारद चिल्लाये। कितने वर्ष उनके स्मृतिपटल पर से गुजर चुके थे। बारह वर्ष का वैवाहिक जीवन गुजर चुका था। वे चौंके और आँखें खोलकर देखने लगे। सामने नारायण अपना भुवन-मोहन स्मित अधरों पर ले खड़े थे। पलक मारते ही नारद सब समझ गये और लपक-कर प्रभु के चरणों पर गिर पड़े, "प्रभो ! रक्षा कीजिए, रक्षा कीजिए ! आपकी जय हो ! आपकी माया की भी जय हो ! !"

अग्नि-मंत्र

(स्वामी ब्रह्मानन्द को लिखित)

ॐ नमो भगवते रामकृष्णाय

१८९५

प्राणाधिक,

समाचार-पत्र आदि अब बहुत कुछ इकट्ठे हो चुके हैं, और भेजने की आवश्यकता नहीं है। अब भारत में ही आन्दोलन चलने दो। . . .

प्रत्येक दिन सनसनी फैलाना विशेष लाभकारक नहीं है। किन्तु यह जो सारे देश में उत्तेजना फैल रही है, इसी के आधार पर तुम लोग चारों ओर फैल जाओ, अर्थात् जगह जगह शाखाएँ स्थापित करने का प्रयत्न करो। मौका खाली जाने न पाये। मद्रासियों से मिलकर जगह जगह समिति आदि की स्थापना करनी होगी। उस पत्रिका के विषय में क्या हुआ, जो मैंने सुना था कि प्रकाशित होने जा रही है? इसको चलाने में तुम लोग क्यों घबड़ा रहे हो? . . . आगे बढ़ो। अपनी बहादुरी तो दिखाओ। प्रिय भाई, मुक्ति नहीं मिली, तो न सही, दो-चार बार नरक ही जाना पड़े, तो हानि ही क्या है? क्या यह बात असत्य है?——

मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णाः
त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः।
परगुणपरमाणुं पर्वतीकृत्य नित्यं

निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः ॥ *

भले ही न हो तुम्हारी मुक्ति । यह कैसी बच्चों की सी बकवास ? राम राम ! 'नहीं है', 'नहीं है' कहने से साँप का जहर भी उतर जाता है । क्या यह सत्य नहीं है ? 'मैं कुछ नहीं जानता', 'मैं कुछ भी नहीं हूँ'——यह किस प्रकार का वैराग्य और विनय है, भाई ? यह तो मिथ्या वैराग्य एवं व्यंग्यपूर्ण विनय है । इस प्रकार के दीन-हीन भावों को दूर करना होगा । यदि मैं नहीं जानता हूँ, तो और कौन जानता है ? यदि तुम नहीं जानते हो, तो अब तक तुमने क्या किया ? यह सब नास्तिकों की बात है, अभागे आचारों की विनयशीलता है । हम सब कुछ कर सकते हैं और करेंगे; जिनका सौभाग्य है, वे गर्जना करते हुए हमारे साथ निकल आयेंगे और जो भाग्यहीन हैं, वे बिल्ली की तरह एक कोने में बैठकर म्याऊँ-म्याऊँ करते रहेंगे । एक महापुरुष लिखते हैं कि 'आन्दोलन बहुत कुछ हो चुका है, और अधिक की क्या आवश्यकता है, अब घर लौटना चाहिए ।' मैं तो उनको मर्द तब जानता, जब मेरे रहने के लिए कोई मठ बनवाकर वे मुझे बुलाते । मेरे दस वर्ष के अनुभव ने मुझे पक्का बना

---

* ऐसे साधु कितने हैं, जिनके कार्य, मन तथा वाणी पुण्य-रूप अमृत से परिपूर्ण हैं और जो विभिन्न उपकारों के द्वारा त्रिभुवन की प्रीति सम्पादित कर दूसरों के परमाणु-तुल्य अर्थात् अत्यन्त स्वल्प गुण को भी पर्वतप्रमाण बढ़ाकर अपने हृदय का विकास साधित करते हैं ॥ भर्तृहरि ॥

दिया है। केवल बातों से कुछ होने-जाने का नहीं है। जिसके मन में साहस तथा हृदय में प्यार है, वही मेरा साथी बने--मुझे और किसी की आवश्यकता नहीं है। जगन्माता की कृपा से मैं अकेला ही एक लाख के बराबर हूँ तथा स्वयं ही बीस लाख बन जाऊँगा। अब एक कार्य समाप्त होने से मैं निश्चिन्त हो जाता। भाई राखाल, तुम उत्साहपूर्वक उसे कर दो। वह है माताजी के लिए जमीन खरीदना। मेरे पास रुपये-पैसे मौजूद हैं। सिर्फ तुम उद्यम के साथ जमीन को देखकर खरीद लेना। जमीन के लिए ३-४ या ५ हजार तक लग जाय, तो कोई हर्ज नहीं है।... मेरा भारत लौटना अभी अनिश्चित है। मेरे लिए जैसे वहाँ भ्रमण करना, वैसे यहाँ भी है, भद केवल इतना है कि यहाँ पर पण्डितों का संग है और वहाँ मूर्खों का--यही स्वर्ग-नरक का भेद है। यहाँ के लोग मिल-जुलकर कार्य करते हैं और हम लोगों के तमाम कार्यों में तथाकथित वैराग्य यानी आलस्य है, और ईर्ष्या आदि के कारण सब कुछ नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है।

हरमोहन बीच बीच में बहुत ही लम्बा-चौड़ा पत्र लिखते हैं, उसका आधा भी मैं नहीं समझ पाता, हालाँकि यह मेरे लिए परम लाभजनक ही है। क्योंकि उसमें अधिकांश समाचार इस प्रकार के होते हैं कि अमुक व्यक्ति अमुक की दुकान पर बैठकर मेरे विरुद्ध इस प्रकार की बातें बना रहा था, जो उनके लिए असहनीय हो गया एवं इस बात पर उससे उनका झगड़ा हो गया, आदि।

मेरे पक्ष के समर्थन के लिए उनको अनेक धन्यवाद। किन्तु मुझे कौन क्या कह रहा है, उसे ध्यानपूर्वक सुनने में मुख्य बाधा यही है कि 'स्वल्पश्च कालो बहवश्च विघ्नाः'—'समय अत्यन्त कम है और विघ्न अनेक हैं'।...

एक organised society (संगठित समिति) की आवश्यकता है। शशि घरेलू कार्यों की व्यवस्था करे, रुपया-पैसा तथा बाजार आदि का भार सान्याल सम्हाले तथा शरत् secretary (मंत्री) बने, अर्थात् पत्र-व्यवहार आदि के कार्य वह करता रहे। एक स्थायी केन्द्र स्थापित करो, क्यों व्यर्थ के झगड़े में पड़े हुए हो, समझे न? अखबारी प्रकाशन बहुत कुछ हो चुका है, अब तो कुछ करके दिखलाओ। यदि कोई मठ बना सको, तब मैं समझूँगा कि तुम बहादुर हो, नहीं तो कुछ नहीं। मद्रासियों से परामर्श कर कार्य करना, उनमें कार्य करने की बड़ी भारी शक्ति है। इस वर्ष श्रीरामकृष्णोत्सव को इस शान के साथ सम्पन्न करो कि एक उदाहरण प्रस्तुत हो सके। भोजनादि का प्रचार जितना ही कम हो सके, उतना ही अच्छा। हाथोंहाथ प्रसाद का वितरण भी हो जाय, तो अच्छा ही है।

श्रीरामकृष्ण देव की एक अत्यन्त संक्षिप्त जीवनी अंग्रेजी में लिखकर मैं भेज रहा हूँ। उसके बंगानुवाद के साथ उसे छपवाकर महोत्सव में बेचना; मुफ्त वितरित की हुई पुस्तकों को लोग प्रायः नहीं पढ़ते हैं, इसलिए कुछ मूल्य अवश्य रखना चाहिए। खूब धूमधाम के

साथ महोत्सव करना।...

बुद्धि प्रशस्त होनी चाहिए। तब कहीं कार्य होता है। गांव अथवा शहर में जहां कहीं भी जाओ, श्री परमहंस देव के प्रति श्रद्धासम्पन्न दस व्यक्ति भी जहाँ मिलें, वहीं एक सभा स्थापित करो। गाँवों में जाकर अब तक तुमने क्या किया? हरि-सभा इत्यादि को धीरे धीरे स्वाहा करना होगा। क्या कहूं, यदि मुझ जैसा एक भूत और मुझे मिलता! समय आने पर प्रभु सब कुछ जुटा देंगे।... यदि शक्ति विद्यमान है, तो उसका विकास अवश्य दिखाना होगा।...मुक्ति-भक्ति की भावना को दूर कर दो। 'परोपकाराय हि सतां जीवितं, परार्थं प्राज्ञ उत्सृजेत्'—'साधुओं का जीवन परोपकार के लिए हो है, प्राज्ञ व्यक्तियों को दूसरों के लिए सब कुछ त्याग देना चाहिए।' संसार में यही एकमात्र रास्ता है। तुम्हारी भलाई करने से मेरी भी भलाई है, दूसरा कोई उपाय नहीं है, बिल्कुल नहीं है।... तुम भगवान् हो, मैं भगवान् हूँ, और मनुष्य भगवान् है। यह वही भगवान् है, जो मानवता के रूप में अभिव्यक्त होकर दुनिया में सब कुछ कर रहा है। क्या भगवान् कहीं अन्यत्र बैठा हुआ है? अतः कार्य में संलग्न हो जाओ।

शशि (सान्याल) द्वारा लिखित एक पुस्तक विमला ने मुझे भेजी है। उस ग्रन्थ का अध्ययन कर विमला को यह ज्ञान प्राप्त हुआ है कि इस दुनिया में जितने

भी लोग हैं, सभी अपवित्र हैं तथा उन लोगों के संस्कार ही इस प्रकार के हैं कि उनसे धर्म का अनुष्ठान हो ही नहीं सकता, केवल कुछ भारतीय ब्राह्मण लोग ही धर्मानुष्ठान कर सकते हैं। उनमें भी शशि (सान्याल) और विमला चन्द्र-सूर्य-स्वरूप हैं। शाबाश, कितना शक्तिशाली धर्म है! खासकर बंगाल में इस प्रकार का धर्मानुष्ठान अत्यन्त ही सहज है। ऐसा कोई दूसरा सहज मार्ग ही नहीं है! यही तो तप-जप आदि का सार सिद्धान्त है कि मैं पवित्र हूं और बाकी सब लोग अपवित्र। यह कितना पैशाचिक, राक्षसी तथा नारकीय धर्म है। यदि अमेरिका के लोग धर्मानुष्ठान नहीं कर सकते, यदि इस देश में धर्म का प्रचार उचित नहीं है, तो फिर इन लोगों से सहायता माँगने की क्या आवश्यकता है? एक ओर अयाचितवृत्ति का गुणगान और दूसरी ओर पोथी में ऐसे आक्षेपों की भरमार कि मुझे कोई भी कुछ नहीं देता है। विमला तो इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि यदि भारत के लोग शशि (सान्याल) तथा विमला के चरणों पर धनराशि अर्पित नहीं करते, तो इसका अर्थ यह है कि भारत का सर्वनाश होने में विलम्ब नहीं है। क्योंकि शशि बाबू को सूक्ष्म व्याख्या मालूम है और उसे पढ़कर विमला को यह निश्चित रूप से विदित हो चुका है कि उसके सिवाय इस दुनिया में और कोई भी पवित्र नहीं है। इस रोग की दवा क्या है? शशि बाबू से कहना कि वे मलाबार चले जायें। वहाँ के राजा ने प्रजा से जमीन

छीनकर ब्राह्मणों के चरणों में अर्पित की है, गाँव गाँव में बड़े बड़े मठ हैं, उत्तम भोजन की व्यवस्था है, साथ में दक्षिणा की भी। ... भोग करते समय ब्राह्मणेतर जाति के स्पर्श से कोई दोष नहीं होता--भोग समाप्त होते ही स्नान आवश्यक है, क्योंकि ब्राह्मणेतर जाति तो अपवित्र है, अन्य समय में उसे स्पर्श करने की आवश्यकता भी नहीं है। साधु-संन्यासी तथा ब्राह्मण दुष्टों ने देश को रसातल में पहुँचाया है। 'देहि, देहि' की रट लगाना तथा चोरी-बदमाशी करना--किन्तु हैं धर्म के प्रचारक। धन कमायेंगे, सर्वनाश करेंगे, साथ ही यह भी कहेंगे कि हमें न छूना। कितने महान् महान् कार्यों को वे लोग सम्पन्न करते रहे हैं!--यदि आलू से बैंगन का स्पर्श हो जाय, तो कितने समय के अन्दर यह ब्रह्माण्ड रसातल को पहुँच जायगा? चौदह बार हाथ मिट्टी न करने से पूर्वजों के चौदह पुश्त नरकगामी होते हैं अथवा चौबीस, इन उलझनपूर्ण प्रश्नों की मीमांसा में ये लोग आज दो हजार वर्षों से लगे हुए हैं, जबकि दूसरी ओर one fourth of the people are starving (जनता का एक-चौथाई भाग भूखा मर रहा है)। आठ वर्ष की कन्या के साथ तीस वर्ष के पुरुष का विवाह करके कन्या के पिता-माताओं के आनन्द की सीमा नहीं रहती! ... फिर इस काम में बाधा पहुँचने से वे कहते हैं कि हमारा धर्म ही चला जायगा! आठ वर्ष की लड़की के गर्भाधान की जो लोग वैज्ञानिक व्याख्या करते हैं, उनका धर्म कहाँ का धर्म है?

बहुत से लोग इस प्रथा के लिए मुसलमानों को दोषी ठहराते हैं। वास्तव में क्या मुसलमान इसके लिए दोषी हैं? सम्पूर्ण गृह्यसूत्रों को तो एक बार पढ़कर देखो, 'हस्तात् योनिं न गूहति'--दशा जब तक है, तभी तक कन्या मानी जाती है, इसके पहले ही उसका विवाह कर देना चाहिए। तमाम गृह्यसूत्रों का यही आदेश है।

वैदिक अश्वमेध यज्ञानुष्ठान की ओर ध्यान दो--'तदनन्तरं महिषीं अश्वसन्निधौ पातयेत्'--आदि वाक्य देखने को मिलेंगे। होता, ब्रह्मा, उद्‌गाता इत्यादि नशे में चूर होकर कितना घृणित आचरण करते थे। अच्छा हुआ कि जानकी के वनगमन के बाद राम ने अकेले ही अश्वमेध यज्ञ किया, इससे चित्त को बड़ी शान्ति मिली।

समस्त ब्राह्मण ग्रन्थों में इसका उल्लेख विद्यमान है तथा सभी टीकाकारों ने माना है, फिर कैसे अस्वीकार किया जा सकता है?

तात्पर्य यह है कि प्राचीन काल में बहुत सी चीजें अच्छी भी थीं और बुरी भी। उत्तम वस्तुओं की रक्षा करनी होगी, किन्तु Ancient India (प्राचीन भारत) से Future India (भावी भारत) अधिक महत्त्वपूर्ण होगा। जिस दिन श्रीरामकृष्ण देव ने जन्म लिया है, उसी दिन से Modern India (वर्तमान भारत) तथा सत्ययुग का आविर्भाव हुआ है। तुम लोग सत्ययुग का उद्‌घाटन करो और इसी विश्वास को लेकर कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण हो।

एक ओर तो तुम श्रीरामकृष्ण देव को अवतार कहते

हो और उसके साथ ही साथ अपने को अज्ञ भी बतलाते हो, यही कारण है कि मैं बिना किसी संकोच के तुम लोगों को liar (झूठा) कहता हूँ। यदि श्रीरामकृष्ण देव सत्य हैं, तो तुम भी सत्य हो। किन्तु तुमको यह प्रमाणित कर दिखाना होगा।... तुम्हारे अन्दर महाशक्ति विद्यमान है, नास्तिकों में कुछ भी नहीं है। आस्तिक लोग वीर होते हैं। जो महाशक्ति उनमें विद्यमान है, उसका विकास अवश्य होगा और उससे जगत् परिप्लावित हो जायगा। 'गरीबों का उपकार करना ही दया है'; 'मनुष्य भगवान् है, नारायण है'; 'आत्मा में स्त्री-पुरुष-नपुंसक तथा ब्राह्मण-क्षत्रियादि भेद नहीं हैं'; 'ब्रह्मादिस्तम्ब पर्यन्त सब कुछ नारायण है'। कीट less manifested (स्वल्प अभिव्यक्त) तथा ब्रह्म more manifested (अधिक अभिव्यक्त) है।

'धीरे धीरे ब्रह्मभाव की अभिव्यक्ति के लिए जिन कार्यों से जीव को सहायता मिलती है, वे ही अच्छे हैं और जिनके द्वारा उसमें बाधा पहुँचती है, वे बुरे हैं।'

'अपने में ब्रह्मभाव को अभिव्यक्त करनें का यही उपाय है कि इस विषय में दूसरों की सहायता करना।'

'यदि स्वभाव में समता न भी हो, तो भी सबको समान सुविधा मिलनी चाहिए। फिर भी यदि किसी को अधिक तथा किसी को कम सुविधा देनी हो, तो बलवान की अपेक्षा दुर्बल को अधिक सुविधा प्रदान करना आवश्यक है।'

अर्थात् चाण्डाल के लिए शिक्षा की जितनी

आवश्यकता है, उतनी ब्राह्मण के लिए नहीं। यदि किसी ब्राह्मण के पुत्र के लिए एक शिक्षक आवश्यक हो, तो चाण्डाल के लड़के के लिए दस शिक्षक चाहिए। कारण यह है कि जिसकी बुद्धि की स्वाभाविक प्रखरता प्रकृति के द्वारा नहीं हुई है, उसके लिए अधिक सहायता करनी होगी चिकने-चुपड़े पर तेल लगाना पागलों का काम है। The poor, the downtrodden, the ignorant, let these be your God —'दरिद्र, पददलित तथा अज्ञ तुम्हारा ईश्वर बनें।'

तुम्हारे सामने एक भयानक दलदल है—उससे सावधान रहना; सब कोई उस दलदल में फंसकर खत्म हो जाते हैं। वर्तमान हिन्दुओं का धर्म न तो वेद में है, और न पुराण में, न भक्ति में है और न मुक्ति में—धर्म तो भात की हाँड़ी में समा चुका है—यही वह दलदल है। वर्तमान हिन्दू धर्म न तो विचार-प्रधान ही है और न ज्ञान-प्रधान, 'मुझे न छूना, मुझे न छूना', इस प्रकार की अस्पृश्यता ही उसका एकमात्र अवलम्ब है, बस इतना ही। इस घोर वामाचाररूप अस्पृश्यता में फंसकर तुम अपने प्राणों से हाथ न धो लेना। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु', क्या यह वाक्य केवल पोथी में निबद्ध रहने के लिए है? जो लोग गरीबों को रोटी का एक टुकड़ा नहीं दे सकते, वे फिर मुक्ति क्या दे सकते हैं? दूसरों के श्वास-प्रश्वासों से जो अपवित्र बन जाते हैं, वे फिर दूसरों को क्या पवित्र बना सकते हैं? अस्पृश्यता

is a form of mental disease (एक प्रकार की मानसिक व्याधि है); उससे सावधान रहना। 'सब प्रकार का विस्तार ही जीवन है और सब प्रकार की संकीर्णता मृत्यु है। जहाँ प्रेम है, वहीं विस्तार है और जहाँ स्वार्थ है, वहीं संकोच। अतः प्रेम ही जीवन का एकमात्र विधान है। जो प्रेम करता है, वही जीवित है; जो स्वार्थी है, वह मृतक है। अतः प्रेम प्रेम के निमित्त, क्योंकि यह जीवन का वैसा ही एकमात्र विधान है, जैसा जीने के लिए श्वास लेना। निष्काम प्रेम, निष्काम कर्म इत्यादि का यही रहस्य है।' . . . यदि हो सके, तो शशि (सान्याल) की कुछ भलाई का प्रयत्न करना। वह अत्यन्त उदार और निष्ठावान है, किन्तु उसका हृदय संकीर्ण है। दूसरों के दुःख में दुःखी होना सबके लिए सम्भव नहीं है। हे प्रभो, सब अवतारों में श्री चैतन्य महाप्रभु श्रेष्ठ हैं, किन्तु उनमें प्रेम की तुलना में ज्ञान का अभाव था, श्रीरामकृष्णावतार में ज्ञान, भक्ति तथा प्रेम — तीनों ही विद्यमान हैं। उनमें अनन्त ज्ञान, अनन्त प्रेम, अनन्त कर्म तथा प्राणियों के लिए अनन्त दया है। अभी तक तुम्हें इसका अनुभव नहीं हुआ है। 'श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्' -- 'इनके बारे में सुनकर भी कोई कोई इनको जान नहीं पाते हैं।' 'युग-युगान्तर से समग्र हिन्दू जाति के लिए जो चिन्तन का विषय रहा, उन्होंने अपने एक ही जीवन में उसकी उपलब्धि की। उनका जीवन सब जातियों के शास्त्रों का सजीव भाष्यस्वरूप है।'

लोगों को धीरे धीरे इसका पता लगेगा । मेरी तो यही पुरानी वाणी है —— Struggle, struggle up to light ! Onward! (अपनी पूरी शक्ति के साथ ज्योति की ओर अग्रसर हो ।) इति ।

दास,
नरेन्द्र

•

श्रीमाँ सारदा

श्रीमती सरलाबाला दासी

पौष कृष्णा सप्तमी, बृहस्पतिवार, २२ दिसम्वर, १८५३ ई० की सन्ध्या को बंगाल के बाँकुड़ा जिले के जयरामवाटी ग्राम में जननी सारदेश्वरी ने जन्म ग्रहण किया था।

जयरामवाटी ग्राम में श्रीरामचन्द्र मुखर्जी नामक एक अत्यन्त निष्ठावान धार्मिक ब्राह्मण रहा करते थे। श्रीमाँ ने धरा को कृतार्थ करने पुत्रीरूप में उन्हीं के घर जन्म लिया था।

जब श्रीमाँ केवल छह वर्ष की थीं, युगावतार श्रीरामकृष्ण देव के साथ उनका शुभविवाह हुआ था। इसके लगभग सात वर्ष पश्चात् वे पहली बार अपनी ससुराल कामारपुकुर आयीं।

यह विवाह एक आश्चर्य ही था। सुना जाता है कि एक बार महिलाओं के वनभोज में श्रीरामकृष्ण तथा श्रीमाँ अपनी अपनी माताओं के साथ गये हुए थे, तभी उन्होंने प्रथम बार एक दूसरे को देखा था। इसके कुछ वर्षों पश्चात् जब ठाकुर के विवाह-सम्बन्ध की चर्चा कई स्थानों पर चल रही थी, तब स्वयं उन्होंने स्पष्ट रूप से वता दिया था कि उनके लिए कन्या पहले से ही निर्दिष्ट की हुई है। और वह थी जयरामवाटी ग्राम की यही छह वर्षीया कुमारी।

किन्तु विवाह के पश्चात् अपनी इस मनोनीता पत्नी के प्रति उनका विशेष लगाव नहीं देखा गया। लगभग सात वर्ष पश्चात् श्रीमाँ पहली बार कामारपुकुर आयीं। अत्यन्त छोटी उम्र की होने के कारण इतने दिनों तक उन्हें कामारपुकुर नहीं लाया गया था। इसके पाँच वर्ष

पश्चात् सन् १८७२ के मार्च (फाल्गुन) महीने में श्रीमाँ पहली बार दक्षिणेश्वर आयीं। दक्षिणेश्वर में श्रीमाँ नौबत-खाने में रहा करती थीं। वे भोर में सबके उठने के पूर्व ही शौच-स्नान आदि से निवृत्त हो जातीं। मन्दिर में अनेक कर्मचारी थे। वहाँ बहुत से अतिथि और साधु-संन्यासी भी आया करते थे। किन्तु उनमें से कोई भी श्रीमाँ की परछाईं तक नहीं देख पाता था। ठाकुर सदैव भावावेश में निमग्न रहते। भावावेश में ही वे श्रीमाँ से जो थोड़ी बहुत बातचीत करते, उसी से माँ के आनन्द की सीमा न रहती। अपने स्वामी की सेवा का जितना भी अवसर उन्हें मिल पाता, उसी में वे तृप्त रहतीं तथा वही तृप्ति उन्हें परम आनन्दित करती।

इसके पश्चात् १२८० बंङगाद्ब (सन् १८७३) के ज्येष्ठ महीने की फलहारिणी काली-पूजा के दिन रात्रि में ठाकुर ने श्रीमाँ की शोड़षी पूजा की तथा यही उनके अपूर्व दाम्पत्य जीवन का सम्पूर्ण परिचय है।

पहले ही कहा जा चुका है कि यह विवाह एक आश्चर्यजनक विवाह था। इसका स्मरण कर भावुकों के हृदय में हर-गौरी के मधुर दाम्पत्य का चित्र उभर आता है। पूर्णतः कामगंधहीन पर लबालब प्रीति से भरे इस दाम्पत्य प्रेम का दूसरा उदाहरण संसार में ढूँढ़ निकालना सम्भव नहीं है। इसके बावजूद यह इतना सहज और निश्छल है कि इसमें रंचमात्र भी अस्वाभाविकता नहीं। एक बार श्रीमाँ जयरामबाटी से दक्षिणेश्वर पैदल जा रही

थीं। मार्ग में रास्ता भूल गयीं। तभी उन्होंने एक भीमकाय दस्यु और उसकी पत्नी को देखा। देखते ही श्रीमाँ ने कहा, "पिताजी! मैं रास्ता भूल गयी हूँ। आपके दामाद दक्षिणेश्वर में रहते हैं। मैं वहीं जा रही हूँ।" 'आपके दामाद' इन दो शब्दों में ही श्रीमाँ के हृदय के सरल एवं प्रीतिपूर्ण भाव की कैसी अद्‌भुत अभिव्यक्ति हुई है! ठाकुर की सेवा के छोटे-मोटे कार्यों में भी श्रीमाँ को असीम आनन्द होता। उनका आचरण सदैव नितान्त लज्जाशीला कुलवधू के समान मृदु हुआ करता। मानो नारीसुलभ शील के गुण्ठन में वे सर्वदा अपने को लपेटे हुई हों। फिर साथ ही संकोचहीन सहज भाव। रास्ता भूल जाने पर उस जनशून्य मैदान में जब श्रीमाँ ने भीमकाय डाकू को देखा, तो "पिताजी! मैं रास्ता भूल गयी हूँ" तथा "आपके दामाद दक्षिणेश्वर में रहते हैं" इन दो ही वाक्यों से उस अपरिचित दस्यु को जिस प्रकार अपना बना लिया, वैसा कोई अति साहसी, उम्रवाली प्रौढ़ महिला भी कर सकेगी या नहीं इसमें सन्देह है। फिर भी श्रीमाँ एक अति सरल ग्राम्य बाला मात्र थीं। स्वामी के दर्शन की आशा से आनन्द-भरा हृदय ले श्रीमाँ पथ पर बढ़ती जा रही हैं। यात्रा की वे अभ्यस्त नहीं हैं, तथापि उन्हें मार्ग के कष्ट किसी प्रकार पीड़ा नहीं दे पा रहे हैं। किसी भी प्रकार की आशंका उनके मन में उद्वेग की परछाईं डालने में समर्थ नहीं है। उनका तो सबके प्रति अपनापन है और इस अपनेपन का प्रभाव ऐसा है कि कोई उससे

बच जाएगा इसमें सन्देह ही है।

माँ गाँव की ही तो एक सरल बाला थीं। उन्होंने लिखना-पढ़ना भी नहीं सीखा था। उनकी सरलता के कारण कभी कभी ऐसा लगता, मानो वे संसार की बातों को न समझती हों, किन्तु उसी सरलता के भीतर गहरी बुद्धिमत्ता भी समायी हुई थी। पूज्यपाद स्वामी सारदा-नन्द-रचित 'लीलाप्रसंग' से एक घटना का यहाँ उल्लेख करती हूँ—

एक दिन दक्षिणेश्वर में दोपहर के समय ठाकुर ने हमारी परमाराध्या श्रीमाँ से पान लगाने और अपने कमरे को झाड़-बुहारकर साफ करने तथा बिस्तर झटका-रने के लिए कहा, और स्वयं मन्दिर में माँ-काली के दर्शन करने चले गये। श्रीमाँ शीघ्रतापूर्वक सब काम समाप्त कर ही रही थीं कि ठाकुर लौटे—एकदम मतवाले की की तरह। आँखों में लाली, पैरों में लड़खड़ाहट, बातचीत में लटपटापन। कमरे में प्रवेश कर वे झूमते-लड़खड़ाते श्रीमाँ के एकदम समीप पहुँच गये। श्रीमाँ दत्तचित्त हो गृहकार्य में लगी थीं। ठाकुर ने उन्हें हिलाया और कहा, "क्यों जी, क्या मैंनें शराब पी है?" श्रीमाँ नें पीछे मुड़-कर देखा, तो ठाकुर की ऐसी भावावस्था देख अवाक् रह गयीं। वे बोलीं, "नहीं, शराब क्यों पिओगे?" ठाकुर बोले, " तब लड़खड़ा क्यों रहा हूँ? बातचीत क्यों नहीं कर पा रहा हूँ? क्या मैं शराबी हूँ?" श्रीमाँ ने कहा, "नहीं, तुम भला शराब क्यों पिओगे। तुम माँ-काली

का भावामृत पिये हुए हो।" "ठीक कह रही हो," कहकर ठाकुर आनन्द प्रकट करने लगे।

'लीलाप्रसंग' की ही एक अन्य घटना है। ठाकुर जब पानीहाटी के मेले में जा रहे थे, उन्होंने श्रीमाँ से पुछवाया कि क्या वे भी मेले में जाना चाहेंगी ? श्रीमाँ की सहेलियों की जाने की इच्छा रहते हुए भी उन्होंने 'नाही' कर दी। इससे ठाकुर बड़े प्रसन्न हुए और बोले, "बड़ी बुद्धिमती है, साथ चलनें से मना कर दिया। यदि साथ जाती, तो लोग कहते हंस-हंसी एक साथ आये हैं।" श्रीमाँ ने जाने से मना क्यों किया था इसके सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं ही कहा है— "उन्होंनें मुझसे पुछवाया था कि मैं जाना चाहूँगी या नहीं ? यह तो नहीं कहा था कि मुझे उनके साथ जाना होगा। इसी से मुझे लगा था कि न जाना ही ठीक होगा।"

ठाकुर तथा श्रीमाँ दोनों की सरलता में बड़ा साम्य दीख पड़ता है। जिस प्रकार ठाकुर इससे-उससे पूछा करते कि गले का रोग कैसे मिटेगा, उसी प्रकार बीमारी के समय श्रीमाँ भी कहा करतीं – "अरे बाबा ! मुझे यह क्या रोग हो गया ! क्या यह रोग मिटेगा नहीं ? देखो, इसने मुझे बिस्तर पर डाल रखा है, इत्यादि।" एक घटना और है। एक समय पण्डित शशधर तर्कचूड़ामणि ने ठाकुर से कहा था कि शरीर में रोग के स्थान पर मन को केन्द्रित कर रोग को दूर किया जा सकता है। इस पर ठाकुर ने दृढ़तापूर्वक कहा था कि पण्डित होकर भी तुम यह कैसी बातें कर रहे हो ! जो मन मैंने सच्चिदानन्द को दे दिया

है, उसे वहाँ से लौटाकर हाड़-मांस के पिंजरे में लगाऊँ ? इसी प्रकार जब कोई श्रीमाँ से अनुनयपूर्वक प्रार्थना करती कि आप एक वार तो कहिए कि रोग दूर हो जाय, उससे निश्चय ही रोग दूर हो जायगा, तो श्रीमाँ कह उठतीं, "क्या मैं वैसा कह सकती हूँ ? माँ, ठाकुर जो करेंगे, वही होगा । मैं और क्या कहूँ ?" इससे भिन्न दूसरा उत्तर श्रीमाँ से मिलता ही न था । यदि कोई वहुत हठ करता और कहता कि आप एक वार तो मुँह से कहिए, उससे निश्चय ही रोग दूर हो जायगा, तव भी श्रीमाँ कहतीं, "मैं वैसा कैसे कह सकती हूँ ? ठाकुर जो करेंगे वही होगा ।"

उनका स्नेह क्षण क्षण में उन्हें नये नये भावों से अभिभूत कर देता । किसी माँ का इकलौता बेटा संन्यासी हो गया । वह श्रीमाँ के पास आयी और अपने हृदय की पीड़ा जताकर रोनें लगी । श्रीमाँ की आँखें भी सजल हो उठीं और वे कहने लगीं, "अहा, देखो तो ! इकलौता बेटा, इसका प्राणधन, और वह भी साधु हो गया । बेचारी कैसे जिये !" किसी दूसरे दिन एक अन्य माँ आयी । उसके दो पुत्रों ने संन्यासी होने के लिये ब्रह्मचर्यव्रत धारण कर लिया था । श्रीमाँ को यह वात वताते हुए वह कहने लगी, "माँ, जिसमें सन्तान का कल्याण हो, वही तो माँ की कामना होनी चाहिए । संसार में भला क्या रखा है ? लड़का यदि परम कल्याण के पथ पर जा रहा है, तो उससे वढ़कर आनन्द की वात और क्या हो सकती है ?" सुनकर श्रीमाँ भी कहने लगीं, "ठीक कहती हो, बेटी ; परम कल्याण

के रास्ते यदि लड़का जाता है, तो उससे बढ़कर माँ के लिए भला कौन सा आनन्द हो सकता है ?" भिन्न भिन्न दो स्थानों पर श्रीमाँ की ये जो अलग अलग उक्तियाँ हैं, वे दोनों ही उनके हृदय से निकले उद्‌गार हैं । एक में वे सन्तान विरहिणी माँ के दुख की सहभागिनी हैं, तो दूसरे में यह जानकर परम आनन्दित हैं, कि एक पुत्र की माँ नें सन्तान का परम कल्याण समझ लिया है ।

श्रीमाँ की अनेक कन्याएँ यह अनुभव करती थीं कि श्रीमाँ मुझसे अत्यधिक प्रेम करती हैं और मुझे कभी नहीं भूलतीं । इस लेख की अयोग्य और दीन लेखिका भी उनमें से एक है । श्रीमाँ हमारे घर के निकट ही रहती थीं । उनके दर्शन की इच्छा भी बड़ी प्रबल होती थी । पर मेरा संकोच ही इसमें आड़े आता था । फिर भी जितने दिनों बाद भी श्रीमाँ के दर्शन हुए मैंने हृदय से यह अनुभव किया कि वे मुझे कभी नहीं भूलीं ।

उस अपार स्नेहमयी जननी ने जिस प्रकार पितृहीना दुखी और अपनी लाड़ली राधू के सारे अत्याचार अम्लान मुख से सहे, उसी प्रकार अपनी अन्य सन्तानों द्वारा दिये गये कष्टों को भी उन्होंने निर्विकार भाव से सहन किया । जयरामवाटी में श्रीमाँ अभी अभी ही मलेरिया से अच्छी होकर उठी हैं । शरीर दुर्बल हो गया है । दोपहर में वे विश्राम कर रहीं हैं । ऐसे समय दूर से कोई दर्शनार्थी भक्त आकर उपस्थित होता है और श्रीमाँ तुरन्त भक्त की सेवा के लिए विस्तर छोड़कर उठ बैठती हैं । सौ-सौ

भक्तों के सौ-सौ आग्रह ! किसी ने संकल्प कर रखा है कि श्रीमाँ के हाथ का अन्न ग्रहण किये विना जल नहीं पियेंगे। श्रीमाँ उसके लिए रसोई-घर में भोजन बनाने जा रही हैं। किसी का हठ है कि धूल-भरे पैरों में ही माँ के श्रीचरणों की पूजा करेंगे और तब प्रसाद ग्रहण करेंगे। स्नेहमयी जननी सन्तान के उस हठ को भी पूरा कर रही हैं। सैकड़ों अबोध सन्तानों के श्रीमाँ पर सैकड़ों दावे। सहिष्णुता की प्रतिमूर्ति करुणामयी जननी सभी प्रकार से अपनी स्नेह-सुधा के द्वारा उन्हें तृप्त कर रही हैं। श्रीमाँ के इस रूप को तो सभी ने देखा है। किन्तु प्रयोजन होने पर उनमें दृढ़ता का भी अभाव न था। श्रीमाँ जब अस्वस्थ थीं, तब की बात है। एक दिन गैरिकवस्त्रधारिणी एक महिला श्रीमाँ की चरण धूलि लेने आयी। श्रीमाँ खाट पर लेटी हुई थीं। उसने ज्योंही पदधूलि लेने के लए हाथ बढ़ाया, त्योंही श्रीमाँ बोल उठीं, " अरे अरे ! यह तुम क्या कर रही हो ? पैरों पर हाथ न लगाना। तुम गेरुआ वस्त्रधारिणी संन्यासिनी हो। पैर छूकर मुझे अपराधी न बनाओ !" वह संन्यासिनी अत्यन्त दुखित हो कहने लगी, "बड़ी आशा लेकर आयी थी कि आप कृपा कर मुझे दीक्षा देंगी।"

श्रीमाँ ने कहा "देखो बेटी, अधीर होने से कुछ न होगा। समय आने पर अपने आप सब हो जायगा। क्यों, तुम्हारी शादी क्या नहीं हुई है ? तुम्हें गेरुआ किसने दिया ? जिनके पास से साधना प्रणाली पायी है, निष्ठा-पूर्वक उन्हीं को पकड़ रखो। यथासमय सब होगा।"

तब उस महिला ने कहा, "मुझे किसी ने गेरुआ नहीं दिया। मैंने स्वयं ही गेरुआ धारण किया है। और जो साधनाप्रणाली मुझे मिली है, उससे मैं शान्ति नहीं पा रही हूँ।"

इस पर श्रीमाँ ने कहा, "आज तो मैं बड़ी अस्वस्थ हूँ, इसलिए तुमसे वातचीत नहीं कर पा रही हूँ। तुम दुखी न होना। पर बेटी, यह स्मरण रखना गेरुआ पहनना सहज नहीं है। ये जो आश्रम के लड़के हैं, जो ठाकुर के लिए सब छोड़कर आये है, वे ही वास्तव में गेरुआ पहनने के अधिकारी हैं। गेरुआ पहनना क्या ऐरे-गैरे का काम है ?" यह कह मीठी वातों से श्रीमाँ ने उसे विदाई दी। पर उन्होंने उसे चरणधूलि नहीं लेने दी।

श्रीमाँ के अस्वस्थ रहते ही उनका शुभ जन्मदिन आ गया। उस दिन उनके श्रीचरणों की पूजा करने के लिए वहुत से भक्त एकत्र हो गये। वे अपने को अच्छी तरह चादर से लपेटकर पलंग पर बैठ गयीं। शत शत भक्त श्रीचरणों की पूजा करने आ रहे हैं। श्रीमाँ भी स्नेहपूर्वक सवकी पूजा ग्रहण कर रही हैं। शीघ्रता करते हुए भी पूजा में वहुत समय लग गया। पर माँ इतना कष्ट सहती हुई भी प्रसन्न भाव से अपनी सन्तानों की पूजा ग्रहण करती रहीं। वह दृश्य आज भी मेरे हृदय में अंकित है।

मुझमें ऐसी क्षमता नहीं कि भाषा की तूलिका से श्रीमाँ के स्वरूप को अंकित कर सकूं। श्रीमाँ के दर्शन प्राप्त होने से पूर्व मेरी पुत्री निवेदिता स्कूल में पढ़ती थी। उसी के द्वारा पहले पहल मुझे श्रीमाँ के

समाचार मिले थे। उसने एक दिन कहा, "माँ, हम लोग आज श्रीमाँ के दर्शन करने गयी थीं। वे कितनी सुन्दर हैं, कितनी अच्छी हैं यह तो तुम उनके दर्शन करके ही समझ सकोगी। मुझे इतना अच्छा लगा कि तुमसे क्या कहूँ। बस यही सोच रही थी कि तुम भी एक बार उनके दर्शन कर पातीं।" उसकी ये बातें सुन मैंने कुरेद-कुरेद कर उससे श्रीमाँ की बातें पूछीं। वह भी आनन्दपूर्वक बतलाने लगी कि कैसे वे भोजन के लिए बैठी हुई थीं और बालिकाओं से हँस-हँसकर बातें कर रही थीं। कम भोजन करने के कारण गोलाप-माँ के द्वारा आक्रोश प्रकट किये जाने पर कैसे वे उनकी ओर देखकर हँस रही थीं। कैसे वे सबके हाथों में स्नेहपूर्वक अपने प्रसाद दे रही थीं। उसके वर्णन से मानों मेरे हृदय में वह छवि अंकित हो गयी। उस दिन से प्रायः ही उसके मुँह से श्रीमाँ की बातें सुनती रहती और मेरे मन में यह शिकायत का भाव उठा करता कि सबको अपना लेनेवाली श्रीमाँ ने मुझे क्यों इतनी दूर रखा है? आखिर एक दिन वह बाँध टूट गया और मैंने श्रीमाँ के दर्शन पाये!

आज वे दुर्लभ हैं, ध्यानगम्या हैं। मंगलवार, २० जुलाई १९२० ई०, श्रावण चतुर्थी को रात्रि १-३० बजे चिन्मयी जननी ने मृण्मय घट को तोड़ दिया। जड़दृष्टि को आज उनके दर्शन का अधिकार नहीं है, किन्तु उनके पादस्पर्श से पवित्र होकर संसार ने किस सम्पत्ति को प्राप्त किया है, आज इसका अनुभव करने का समय उपस्थित हुआ है।

('उद्बोधन कार्यालय' से साभार)

●

आध्यात्मिक प्रयास के आधार

स्वामी यतीश्वरानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी यतीश्वरानन्दजी महाराज रामकृष्ण मठ और मिशन के उपाध्यक्ष थे। उनके लेखों में अध्यात्म विद्या को व्यावहारिक जीवन में उतारने की कला होती है। प्रस्तुत लेख मूल अंगरेजी में 'वेदान्त केसरी' के जुलाई १९३८ के अंक में प्रकाशित हुआ था, जहाँ से वह साभार गृहीत हुआ है। --सं०)

अपनी साधना आरम्भ करने से पूर्व यह आवश्यक है कि लक्ष्य का स्पष्ट निर्धारण हो जाना चाहिए। हमें मार्ग के सम्बन्ध में स्पष्ट धारणा होनी चाहिए, और जीवन के लक्ष्य के सम्बन्ध में भी। जब तक हम अपने विचारों और क्रियाओं में अनिश्चित, अस्पष्ट और धूमिल बने रहेंगे, कोई प्रगति दिखायी नहीं देगी और हमारे भीतर निरन्तर अन्तर्द्वन्द्व होते रहेंगे। ये अन्तर्द्वन्द्व अधिकांश लोगों को लक्ष्य की ओर एक कदम भी नहीं बढ़ने देते। लोगों में छिछलापन और सतही चिन्तन अधिक होता है, उनमें वास्तविक और गहरी प्रेरणा नहीं होती, उनका कोई निश्चित और स्पष्ट उद्देश्य नहीं होता।

हमें यह आदर्श निश्चित कर लेना चाहिए कि न तो सांसारिक सुख हमारा लक्ष्य है, न स्वर्गिक सुख। एकमात्र लक्ष्य है आत्म-साक्षात्कार--इहलोक, स्वर्गलोक अथवा अन्य कोई भी लोक नहीं। स्वर्ग का सुख सांसारिक सुखों से बेहतर नहीं है, और जब तक स्वर्गिक सुखों की लालसा बनी हुई है, हम लक्ष्य को नहीं पा सकते।

आखिर स्वर्ग भी तो एक सस्ती ही वस्तु है ।

हम उच्चतर जीवन और सांसारिक जीवन दोनों एक साथ नहीं व्यतीत कर सकते । ऐसा नहीं हो सकता कि हम सांसारिक प्रेम और आसक्तियों के पीछे भी दौड़ें और साथ ही भगवान् की भक्ति भी पा लें । भगवान् और सांसारिक आसक्तियाँ, प्रभु और भौतिक सुख-भोग, एक साथ नहीं रह सकते––'जहाँ राम तहँ काम नहिं, जहाँ काम नहिं राम' ।

आध्यात्मिक जीवन का पूरे उत्साह के साथ प्रारम्भ करने से पूर्व हमें यह निर्णय कर लेना चाहिए कि क्या हम उसकी पूरी कीमत चुकाने के लिए तैयार हैं ? सामान्यतः हममें दो प्रवृत्तियाँ होती हैं––एक सांसारिक और दूसरी आध्यात्मिक । यदि प्रारम्भ में दोनों ही लगभग बराबर बलवती हों, तो आध्यात्मिक प्रवृत्ति को अधिक बलवान बनाना चाहिए, अन्यथा कोई प्रगति नहीं होगी और हमारे भीतर चल रही खींचतान का कभी अन्त नहीं होगा । अतः यह नितान्त आवश्यक है कि हम अपना आदर्श और जीवनपद्धति सदा के लिए निश्चित कर लें । तत्पश्चात् कैसी भी परिस्थिति क्यों न आये, हमें उससे चिपके रहना चाहिए । यदि तुम अनेक प्रकार की बाधाओं और आपत्तियों से भरे इस कठिन मार्ग पर सचमुच चलना चाहते हो, तो तुम्हें इन समस्त विघ्नों पर विजय पाने के लिए तत्पर रहना होगा । इसके लिए यह आवश्यक है कि हममें कुछ मात्रा

में दुस्साहस, निर्भयता और शौर्य हो। साधक का पथ जोखिम से भरा होता है; संकट और बाधाएँ रास्ते में छिपी रहती हैं; और एक बार उनके जाल में फँसनें पर अधिकांश लोगों के लिए कोई उपाय नहीं रह जाता। जब तक तुम अपनी समस्त इच्छाओं और अपने अहं-भाव का त्याग नहीं कर देते, तब तक उच्चतर आदर्श का साक्षात्कार नहीं कर सकते।

(२)

धर्म किताबी ज्ञान से भिन्न है, उससे कुछ अधिक है। केवल सार-संग्रह-वाद (Eclecticism) भी धर्म नहीं है। आजकल पुस्तकें सभी जगह उपलब्ध हैं—सभी धर्मों पर पुस्तकें हैं, विभिन्न धर्मों के सन्देशों को विभिन्न रूपों में पहुँचानेवाली पुस्तकें हैं। किन्तु केवल पाण्डित्य से, केवल बौद्धिक अध्ययन से तुम सत्य को नहीं पहचान सकते। यदि केवल बौद्धिक जीवन को ही हम बहुत अधिक महत्त्व देते हों, तो हम धर्म के सार तत्त्वों का अनुभव नहीं कर सकते। इसलिए बृहदारण्यक उपनिषद् (३/५/१) कहता है कि—

"तस्माद् ब्राह्मण: पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्।" अर्थात्, "व्यक्ति विद्याध्ययन कर विषय में पारंगत हो जाए, किन्तु महान् पण्डित बनने के बाद बालक के समान सरल हो जाए।" सरल हुए बिना आध्यात्मिक जीवन बन नहीं सकता। साधक को समस्त छल-प्रपंच और कपट-छद्म से दूर रहना होगा। यदि वह प्रगति चाहता

है, तो उसे मन की समस्त विकृतियों और दुष्टताओं का त्याग करना होगा। उसे सीधा, सरल, पूर्णरूपेण ईमानदार, स्पष्टभाषी और ध्यानप्रिय व्यक्ति वनना होगा। आध्यात्मिक जीवन के मूल तत्त्वों को समझ लेने तथा परमात्मा की स्पष्ट धारणा कर लेने के वाद नियमों के पालन करने का प्रयत्न करना चाहिए। सतही और असार वातें ज्यादा मत पढ़ो। ऐसा पठन केवल अशान्ति और परेशानी पैदा करता है। शंकराचार्य 'विवेकचूड़ामणि' में कहते हैं--

शब्दजालं महारण्यं चित्तभ्रमणकारणम् ॥६०॥
वाग्वैखरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यानकौशलम्।
वैदुष्यं विदुषां तद्वद्भुक्तये न तु मुक्तये ॥५८॥

अर्थात्, "शब्दों का जाल एक वन के समान है, जिसमें चित्त भ्रमित हो जाता है। वाक्पटुता, शब्दों का सुन्दर प्रवाह और शास्त्रों की व्याख्या में कुशलता—ये पण्डितों के भोग के लिए हैं, मुक्ति के लिए नहीं।"

पर इसका अर्थ यह नहीं कि हमें विद्याध्ययन नहीं करना चाहिए; वल्कि आशय यह है कि हमें सत्य के साक्षात्कार की दृष्टि से अध्ययन करना चाहिए। वेदान्त में चिन्तन को सदैव प्रोत्साहित किया गया है, किन्तु दैनिक अध्ययन के साथ कुछ ठोस आध्यात्मिक साधना भी होनी चाहिए। तुम्हें सदा अपनी बुद्धि को संस्कारित करते रहना चाहिए और इसके लिए नियमित अध्ययन करना आवश्यक है। समस्याओं पर गहराई से विचार करो।

पुस्तक-पठन, मनन-चिन्तन और गहरे अध्ययन की ऐसी आदत बना लो कि जिस दिन तुम किसी पुस्तक में विवेचित सत्यों पर गम्भीरता से विचार करते हुए उसका अध्ययन न कर पाओ, उस दिन तुम्हें दुःख हो। इस दैनिक अध्ययन को तुम्हारी साधना का एक महत्त्वपूर्ण अंग बन जाना चाहिए।

(३)

श्रीरामकृष्ण का सन्देश है—"आध्यात्मिक बनो और अपने जीवन में सत्य का साक्षात्कार कर लो।" आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने से हम प्रभु को अपने जीवन में मूर्तरूप दे सकते हैं। मनुष्य में तरह तरह की वासनाएँ भरी हुई हैं। उनमें काम और लोभ की प्रवृत्तियाँ सर्वाधिक प्रबल हैं। श्रीरामकृष्ण ने हमें आध्यात्मिक जीवन के इन दो सबसे प्रमुख शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने का उपाय बताया है। उनका कथन है कि हम अपने और दूसरों के प्रति, स्त्री-पुरुषों के प्रति एक नया दृष्टि-कोण अपनाएँ। स्त्री और पुरुष दोनों के प्रति भगवत्-दृष्टि होनी चाहिए। हमें देह की दृष्टि से नर और नारी पर विचार नहीं करना चाहिए। अपने और दूसरों के सम्बन्ध में सोचते समय यौन सम्बन्धी समस्त विचारों से ऊपर उठे रहना चाहिए। साधकों के लिए ध्यान में रखने का यह सबसे महत्त्वपूर्ण निर्देश है और यही आधुनिक युग के लिए सबसे आवश्यक सन्देश भी है। जो भी उपदेश श्रीरामकृष्ण ने दिये, वे पहले उनके तथा माँ

सारदा के जीवन में उतरे। विना पवित्रता के जीवन आध्यात्मिक नहीं हो सकता। स्वयं अपने भीतर तथा अन्य सभी नर-नारियों में परमात्मा को देखना ही विश्व की यौन समस्या का तथा स्त्री-पुरुष-सम्वन्धों का एकमात्र समाधान है। सवमें परमात्मा को देखना ही एकमात्र व्यावहारिक हल है। वर्तमान काल में इस हल की जितनी आवश्यकता है, उतनी किसी भी काल में नहीं थी। 'काम' और 'कांचन' इस युग के प्रतीक हैं क्योंकि यह प्रमुखतः काम और धन-देवता की पूजा का युग है। इसीलिए श्रीरामकृष्ण को पराकाष्ठा तक जाना पड़ा था, काम को अस्वीकार करना पड़ा था और साथ ही कांचन को भी। आज ज्यों ज्यों हम पश्चिमी जीवन का अवलोकन करते हैं, त्यों त्यों सभी के लिए इस सन्देश का अधिकाधिक महत्त्व समझ में आता है।

पुरुष अथवा नारी से घृणा करके तुम काम-भावना से ऊपर नहीं उठ सकते। ऐसा प्रयत्न कुछ ईसाई सन्तों ने किया था, पर वे असफल रहे, क्योंकि घृणा भी वस्तुतः एक प्रकार का कामाकर्षण ही है। परमात्मा मुझमें हैं, सवमें हैं, सव वस्तुओं में हैं। मैं पुरुष नहीं हूँ, मैं स्त्री नहीं हूँ, मैं वह (आत्मा) हूँ। छान्दोग्य उपनिषद् (८/५/२) कहता है—"ब्रह्मचर्येण ह्येव सत आत्मनस्त्राणं विन्दतेऽथ...तद् ब्रह्मचर्येण ह्येवात्मानमनुविद्य मनुते," अर्थात् "ब्रह्मचर्य के द्वारा आत्मा को जानकर ध्यान करे। उस आत्मा का नाश नहीं होता, जो पूर्ण ब्रह्मचर्य से

प्राप्त होता है ।" "तद्य एवैतौ ब्रह्मलोके ब्रह्मचर्येण अनुविन्दन्ति" । (८/५/३) "ब्रह्मचर्येणैव साधनेन तमीश्वरमिष्ट्वा पूजयित्वा अथवा एषणामात्मविषयां कृत्वा तमात्मानमनुविन्दते ।" (शांकरभाष्य, ८/५/१ पर) अर्थात् "ब्रह्मचर्य के द्वारा जो जानता है, वह ब्रह्मलोक को पहुँचता है । ब्रह्मचर्य के द्वारा ही ईश्वर की आराधना करके तथा आत्मा की जिज्ञासा करके आत्मा को प्राप्त होता है । जिस आत्मा का साक्षात्कार अखण्ड ब्रह्मचर्य के द्वारा होता है, वह कभी नष्ट नहीं होता । ब्रह्मचर्य के द्वारा व्यक्ति परमात्मा को प्राप्त होता है ।

"यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति । भूमैव सुखं ।... तत्त्वमसि ।" अर्थात् "अनन्त ही आनन्द है; जो सान्त है, उसमें सुख नहीं; अनन्त ही आनन्द है... और तुम वही हो ।" (७/२३/१)

"जो वलि और यज्ञ से उच्चतम पूर्णता को प्राप्त करना चाहते हैं, वे उन बालकों के समान हैं, जो लकड़ी के टुकड़े से सागर पार करना चाहते हैं । यह असम्भव कार्य है ।" (मुण्डकोपनिषद्) । ये औपनिषदिक उक्तियाँ आध्यात्मिक जीवन के मूल तत्त्वों को व्यक्त करती हैं । इसी बात पर बुद्ध, ईसा तथा कृष्ण ने भी बल दिया है । यहूदी धर्म सदा संन्यास-विरोधी रहा है, किन्तु बुद्ध, उपनिषद्, कृष्ण, ईसा इत्यादि सभी के उपदेश मूलतः संन्यास-समर्थक ही रहे हैं ।

(४)

बुद्ध ने लोगों से कहा कि वे क्रिया-अनुष्ठानों को

अधिक महत्त्व न दें, बल्कि ध्यान, संयम, अनुशासन और पवित्रता का जीवन यापन करते हुए धर्म को अपने जीवन में सजीव बनाने का प्रयत्न करें। यह भगवान् बुद्ध के जीवन का मिशन था। नैतिक हुए बिना और पवित्र जीवन व्यतीत किये बिना हम कभी भी आध्यात्मिक बनने की आशा नहीं कर सकते और न ही कोई प्रगति कर सकते हैं। इनके अभाव में यह सब एक कोरा स्वप्न ही रह जाता है।

बुद्ध ने ईश्वर के सम्बन्ध में क्या कहा था? वे ईश्वर के बारे में कुछ नहीं बोले थे। परमेश्वर के बारे में बोलने की अपेक्षा ईश्वरीय पथ का अनुसरण और आध्यात्मिक जीवन-यापन कहीं अधिक आवश्यक है। यह सब कहने से क्या लाभ कि "हे प्रभु, तुम कितने सुन्दर हो, तुम्हारा यह आकाश, ये तारे यह सारी सृष्टि कितनी सुन्दर है!" स्रष्टा सदा ही अपनी सृष्टि से बड़ा होता है और इतनी छोटी सी वस्तु (सृष्टि) के लिए गर्व नहीं करता। भले ही हमारे मानवी मापदण्ड से यह सृष्टि महान् दिखायी देती है, किन्तु परमात्मा के लिए तो वह एक तुच्छ वस्तु ही है। अतः भगवत्-पथ का अनुसरण करना अधिक महत्त्वपूर्ण है, बनिस्बत इसके कि बिना कुछ किये हम अनन्त काल तक भगवान् की स्तुति गाते रहें।

एक बार भगवान् बुद्ध से प्रश्न पूछा गया, "देव, क्या ईश्वर है?"

"क्या मैंने कहा है कि ईश्वर है?" बुद्ध ने

उत्तर दिया।

"तो क्या ईश्वर नहीं है ?"

"क्या मैंने कहा है कि ईश्वर नहीं है ?"

बुद्ध वाल की खाल निकालनेवाली कोरी कल्पनाओं का अन्त करना चाहते थे और लोगों से कुछ कार्य करवाना चाहते थे। अतः उन्होंने कहा, "जब किसी घर में आग लग जाय, तब तुम आग बुझाने का प्रयत्न करोगे अथवा केवल आग के कारण की खोज करोगे ?" किन्तु हम मूर्खतावश कई बार कारण की खोज पहले करते हैं, और इस प्रयास में सफल होने के पूर्व ही सारा घर जल जाता है, केवल राख का ढेर भर बच रहता है। हमें सदा आध्यात्मिक जीवन के मूल तत्त्वों पर बल देना चाहिए। श्रीरामकृष्ण ने कहा है, "सभी सियारों की बोली एक समान होती है।" अन्य एक अवसर पर वे कहते हैं, "मैं तो भोजन पकाकर तुम्हारे सामने रखता हूँ, पर तुम हो कि उसे उठाकर खाने का भी कष्ट नहीं करते !"

हम सदा यही चाहते हैं कि कोई दूसरा हमारे लिए सब कुछ कर दे। साधक के स्वयं के पुरुषार्थ बिना किसी प्रकार की मुक्ति सम्भव नहीं। अधिकांश धार्मिक कहलानेवाले लोग धार्मिक जगत् और आध्यात्मिक जीवन में पराश्रयी और परावलम्बी होते हैं। उनके लिए श्रेयस्कर होगा कि वे और कुछ करें।

●

भरतहि जानि राम परिछाहीं

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम मे प्रदत्त प्रवचन का एक अंश)

धर्मतत्त्व को लेकर पहले गुरु वसिष्ठ और श्री भरत में भेद परिलक्षित होता है, पर वह स्थायी नही रहता। चित्रकूट से लौटने के बाद श्री भरत गुरु वसिष्ठ से आज्ञा माँगते हैं कि गुरुदेव, यदि मेरा कार्य धर्म के प्रतिकूल न हो, तो मैं नन्दी ग्राम में कुटी बनाकर रहूँ और वहीं से राज्य का संचालन करूँ। गुरु वसिष्ठ कहते हैं, "भरत, मेरी तो मान्यता यह है कि जो तुम समझोगे, कहोगे और करोगे, वही धर्म का सार होगा।" वास्तव में धर्मसार की व्याख्या भी यही है। गुरु वसिष्ठ ने धर्मसार के लिए तीन शब्दों का प्रयोग किया—समुझब, कहब और करब। अर्थात्, जो समझें, वही कहें और जो कहें, वही करें। जिसके समझने, कहने और करने में भेद नहीं है, वही सच्चे अर्थों में धर्म को जीवन में उतार पाया है। जो बुद्धि से समझे कुछ, वाणी से कहे कुछ और क्रिया में करे कुछ, वह वस्तुतः धर्म के मार्ग पर चलनेवाला है ही नहीं। धर्मसार का तात्पर्य ही है धर्म का वास्तविक उद्देश्य। धर्म को शब्दों और वाक्यों में स्वीकार करनेवाले वहुत लोग मिलेंगे। पर धर्म को शाब्दिक रूप में ग्रहण करने से उसके वास्तविक प्राण की रक्षा नहीं हो सकती। धर्म तव केवल शब्द मात्र रह जाता है। पर श्री भरत आदि मे अन्त तक धर्म को शाब्दिक अर्थों में लेते ही नहीं, वे तो

पूरे जीवन भर धर्म को जीते हैं। उनकी सारी क्रियाएँ धर्ममय रहीं। कुछ लोग भरतजी पर आक्षेप करते हैं कि उन-जैसे व्यक्ति ने अपनी माता कैकेयी के प्रति कठोर शब्दों का प्रयोग किया। इसे उचित कैसे माना जा सकता है? 'रामचरित मानस' में धर्म के मर्म के रूप में यह वार वार दुहराया गया है--

मातु पिता गुर प्रभु कै बानी।
बिनहिं विचार करिअ सुभ जानी॥ १/७६/३

पर श्री भरत ने न तो माँ की बात मानी, न पिता की और न उन्होंने गुरु की ही बात को स्वीकार किया। ऐसा होते हुए भी उन्हें 'रामचरितमानस' में धर्म-धुरन्धर माना गया। यही नहीं, बल्कि यहाँ तक कहा गया कि श्री भरत ही ऐसे पात्र हैं, जो धर्म को समग्र अर्थों में लेकर आये। 'रामचरितमानस' में एक पंक्ति है--

जौं न होत जग जनम भरत को।
सकल धरम धुर धरनि धरत को॥ २/२३२/१

—'अगर संसार में श्री भरतजी का जन्म न हुआ होता, तो पृथ्वी पर समस्त धर्मों की धुरी को कौन धारण करता? इसका तात्पर्य यह है कि श्री भरत समस्त धर्मों के धारण करनेवाले हैं। ऐसे अनेक महापुरुष हुए हैं, जिन्होंने धर्म के एक अंग को जीवन में स्वीकार किया और निष्ठा के साथ उसका पालन करते हुए उसे पूर्णता तक ले गये। पर असली समस्या तो तब आ खड़ी होती है, जब विरोधी-धर्म हमारे सामने आते हैं। और यहीं पर धर्म की कसौटी

होती है। हम देखेंगे कि श्री भरत किस प्रकार सभी धर्मों का ठीक ठीक निर्वाह करते हैं।

महाराज दशरथ भगवान् राम के राज्याभिषेक से एक दिन पहले कैकेयी के भवन में जाते हैं। और संकेत आता है कि जब श्री भरत ननिहाल से लौटे, तो वे भी सबसे पहले कैकेयीजी के महल में गये। कैकेयीजी के महल में जाकर महाराज दशरथ, जो कि योगी थे, अपनी योग-साधना में अधूरे रह गये। उनके अन्तःकरण में काम का प्रभाव पड़ गया। उसी महल में श्री भरत भी गये। माँ ने उनके सामने राज्य का प्रलोभन रखा। पर उनके अन्तःकरण में इसका रंचमात्र भी प्रभाव नहीं पड़ा। बाह्य दृष्टि से उनके कार्य में अटपटापन अवश्य दिखता है, वह यह कि ननिहाल से लौटकर वे पहले कैकेयीजी के पास गये। शिष्टाचार की दृष्टि से, माताओं की अवस्था की दृष्टि से उनके लिए उचित तो यह था कि वे पहले कौसल्या अम्बा के भवन में जाते। यदि वे यह मानकर कैकेयीजी के भवन में गये कि हमारी माता तो कैकेयी हैं, तो उसका तात्पर्य यह हुआ कि उनके हृदय में भी अपने और पराये का भाव है। पर बात ऐसी नहीं। भरतजी का चरित्र ऐसा गूढ़ है कि उसे समझ पाना सहज नहीं। बाह्य दृष्टि से देखने पर उनका चरित्र अनेकानेक लोगों के अन्दर भ्रम की सृष्टि कर देता है। गोस्वामीजी यह कहते हैं कि भगवान् राम के वनगमन का उद्देश्य ही यह था कि लोग एक बार ठीक ठीक समझ

लें कि श्री भरत हैं क्या। भरतजी की प्रकृति को बाह्य क्रिया द्वारा देखनेवाला व्यक्ति नहीं समझ पाया। इसीलिए गोस्वामीजी ने 'रामचरितमानस' में भरतजी के लिए एक वाक्य कहा--

भरतु पयोधि गँभीर। २/२३८

--भरत एक गहरे समुद्र हैं। समुद्र में अनेक रत्न होते हुए भी लोगों को केवल जल ही जल दिखायी देता है, रत्न दिखायी नहीं देता। रत्न तो तब दिखायी देता है, जब समुद्र का मन्थन होता है। और तब पता चलता है कि इस जल-राशि में कितने रत्न छिपे हुए हैं। गोस्वामीजी ने कहा कि भगवान् राम के वनगमन का विरह मानो मन्दराचल पर्वत है, मथानी है। और इस विरह रूपी मन्दराचल पर्वत के द्वारा श्री भरतरूपी समुद्र का मन्थन हुआ, और तब उनके दिव्य गुणरूपी रत्न प्रकट हुए। यदि भगवान् राम का श्री भरतजी से वियोग न हुआ होता, भगवान् राम यदि वन को न गये होते, तो सम्भवतः संसार श्री भरत की गरिमा को, उनकी महिमा को, उनके प्रेम और धर्म को समझ न पाता। श्री भरत के चरित्र में गोपन की प्रक्रिया है, लोकदृष्टि से अपने आपको अलग रखने की प्रक्रिया है, और वह उनके गाम्भीर्य और शील के अनुरूप है। कई लोगों को भरतजी के बाल्यावस्था के चरित्र से थोड़ा भ्रम होता है। गोस्वामी जी ने दोहावली रामायण' में इस ओर तनिक संकेत दिया है।

बाल्यावस्था में चारों भाई सरयू नदी के किनारे

गेंद खेलने एकत्रित होते हैं। वहाँ पहले यह निर्णय किया जाता है कि कौन किसके साथ खेलेगा। अब वहाँ दो प्रकार के चरित्र उपस्थित हो जाते हैं। लक्ष्मणजी ने जब देखा कि बँटवारा होनेवाला है, तो उन्हें भय लगा कि कहीं ऐसा न हो भगवान् राम मुझे विरोधी पक्ष से खेलने को कह दें। वे पहले ही भगवान् राम के पास जाकर खड़े हो जाते हैं और उनसे कहते हैं कि यदि आप मुझे अपने पक्ष में रखेंगे, तभी मैं खेल में सम्मिलित होऊँगा, और यदि दूसरे पक्ष में रखेंगे, तो मैं केवल खेल का दर्शक ही रहना चाहूँगा, खेलूँगा नहीं। यही परिस्थिति श्री भरत की भी है। पर वे भगवान् राम से एक बार भी आग्रह नहीं करते कि मैं आपके पक्ष से खेलूँगा। ये दो विरोधी दृष्टियाँ सामने आती हैं। अयोध्या के नागरिक दर्शक के रूप में आये हुए हैं। उनके मन पर यह स्वाभाविक रूप से प्रभाव पड़ता है कि यद्यपि श्री भरत का चरित्र अत्यन्त पवित्र है, पर जैसा प्रेम लक्ष्मणजी का श्री राघवेन्द्र के प्रति है, वैसा भरतजी का नहीं। लक्ष्मणजी तो खेल में भी भगवान् से विपरीत जाने की कल्पना नहीं कर सकते। और इधर भरतजी हैं, जो अपनी ओर से कुछ कहते नहीं। भगवान् राम दृष्टि उठाकर भरतजी की ओर देखते हैं, यह नहीं कहते कि भरत, तुम विरोधी पक्ष के नेता बनो। पर भगवान् राम की दृष्टि पड़नी थी कि श्री भरत तत्काल विरोधी दल के नेता बनकर खड़े हो जाते हैं। अब अयोध्या के नागरिक यह क्रिया देख प्रेम का निर्णय कर बैठते

हैं। और वे करें भी क्या ? व्यक्ति के पास देखने का साधन तो क्रिया ही है। किसी की भावना को देख पाने का साधन तो किसी के पास है नहीं। इसलिए अयोध्या के नागरिकों को यह भ्रान्ति हो जाती है कि श्रीराम के प्रति प्रेम तो श्री लक्ष्मण का है, श्री भरत का नहीं। पर यह पूर्ण सही नहीं। श्री लक्ष्मण के प्रेम की उत्कटता के बारे में तो कोई सन्देह है ही नहीं। उनका प्रेम तो उन्मादी प्रेम है, प्रखर और निर्मल प्रेम है, जो कभी अपने आपको गुप्त रख ही नहीं सकता। वे तो भगवान् राम के विरुद्ध जाने की कल्पना ही नहीं कर सकते। पर श्री भरत की भावना क्या है ? उनके अन्तःकरण में केवल दो बातें आयीं। जब श्री लक्ष्मणजी ने भगवान् से आग्रह किया कि मैं आपकी ओर से ही खेलूँगा, तो श्री भरत के हृदय में लक्ष्मणजी के प्रति अपार आदर और स्नेह उदित हुआ। भरतजी ने सोचा कि भैया लक्ष्मण से बढ़कर महान् भ्रातृप्रेमी कोई दूसरा हो ही नहीं सकता। उनकी मान्यता आदि से अन्त तक यही रही--

लालन जोगु लखन लघु लोने।
भे न भाइ अस अहहिं न होने ।। २/१९९/१

--ऐसा भाई न तो किसी का हुआ है और न होगा। और इसलिए भैया लक्ष्मण यदि प्रभु के साथ खेलने का हठ करें, तो यह उन्हें शोभा देता है। यदि कोई भरतजी से कहता कि आप भी तो हठ कर सकते हैं, तो वे कहते --नहीं, वह मेरे अधिकार की सीमा से बाहर है जो कार्य

लक्ष्मण के लिए उचित है, वह मेरे लिए उचित नहीं। श्री लक्ष्मण प्रभु के इतने बड़े सेवक हैं। वे इसके अधिकारी हैं। पर मैं तो नन्हा सा सेवक हूँ। श्री भरत अन्त तक यही मानते रहे---

मोहि अनुचर कर केतिक बाता। २/२५२/५

---मेरी बात का कोई अर्थ नहीं। मुझ जैसा नन्हा सा सेवक यदि हठ करे, तो इससे बढ़कर अधर्म और क्या होगा ? इसलिए श्री भरत के मन में केवल एक ही बात आती है कि प्रभु का खेल पूरा होना चाहिए, प्रभु की लीला पूरी होनी चाहिए। अपने खेल की पूर्णता के लिए प्रभु उन्हें चाहे जिस पक्ष में रखें, उन्हें स्वीकार्य है। और इसलिए जब भगवान् राम ने यह संकेत दिया कि भरत, तुम्हें विरोधी दल का नायक बनना है, तो भरतजी मन ही मन प्रसन्न भी होते हैं। उन्हें तो प्रभु की प्रत्येक क्रिया में गुण ही गुण दिखायी देते हैं। उन्हें लगा,---चलो, अच्छा ही हुआ। अगर प्रभु के साथ रहते, तो संकोच के कारण उनके दर्शन नहीं कर पाते। पर अब जब सामने विरोधी बनकर रहेंगे, तब तो प्रभु दिखायी देते ही रहेंगे। प्रतिक्षण सामने दर्शन होता रहे इससे बढ़कर आनन्द की बात ही क्या ? श्री भरत उन प्रेमियों में से नहीं, जो क्रिया देखकर प्रेम का निर्णय करते हैं। वे तो यही मानते हैं कि प्रभु की प्रत्येक क्रिया कृपा से पूर्ण है---वहाँ कृपा के अतिरिक्त और कुछ है भी नहीं। यह उनकी कृपा ही है कि उन्होंने मुझे अपने सामने रखकर अपने श्रीचरणों

के दर्शन का सौभाग्य दिया। और जब खेल प्रारम्भ हुआ, 'मानस' में एक अनोखी पंक्ति आती है, श्री भरत कहते हैं--

मैं जानउँ निज नाथ सुभाऊ।
अपराधिहु पर कोह न काऊ॥
मो पर कृपा सनेहु बिसेषी।
खेलत खुनिस न कबहूँ देखी॥
सिसुपन तें परिहरेउँ न संगू।
कबहुँ न कीन्ह मोर मन भंगू॥
मैं प्रभु कृपा रीति जियँ जोही।
हारेहुँ खेल जितावहिं मोही॥ २/२५९/५-८

--'प्रभो, मैं तो आपका स्वभाव जानता हूँ। आपने अपराधी पर भी कभी क्रोध नहीं किया। मुझ पर तो आपकी विशेष कृपा रही है, स्नेह रहा है। मैंने खेल में भी कभी आपको अप्रसन्न होते नहीं देखा। बचपन से ही मैंने आपका साथ नहीं छोड़ा, और आपने (खेल में भी) कभी मुझे निरुत्साहित नहीं किया, मेरे मन को भंग नहीं किया। मैंने आपकी कृपा की रीति का हृदय में भलीभाँति अनुभव किया है। खेल में भी मुझ हारते हुए को जिताकर आप मेरा उत्साह बढ़ाया करते रहे हैं।'

यहाँ तक तो ठीक है कि भगवान् राम खेल में हार जाया करते थे। पर भगवान् राम के हारने से श्री भरतजी उत्साहित होते थे, यह कैसी बात? उनका यह कहना कि आप मुझे जिताकर मेरा मन भंग नहीं होने देते थे, क्या यह अर्थ रखता है कि अगर भगवान् उन्हें हरा देते, तो उनका

मन भंग हो जाता ? बात ऐसी नहीं। श्री भरत तो प्रतिक्षण प्रभु कृपा का अनुभव करते हैं । खेल की हार-जीत उनके लिए हार-जीत नहीं है । वस्तुतः उनका खेल खेल नहीं रह जाता है। भले वह खेल दिखायी दे, पर वास्तव में वह भावना की एक दिव्य क्रीड़ा है। जब खेल प्रारम्भ हुआ, तो प्रभु को यह अधिकार दिया गया कि वे उसे शुरू करें। भगवान् ने गेंद पर प्रहार किया। गेंद श्री भरत के पास आया। गेंद के पास आते ही श्री भरत ने कूदकर उस पर बड़ी तीव्रता से प्रहार किया । देखनेवालों को लगा कि भगवान् राम ने तो गेंद पर धीरे से प्रहार किया, पर भरत जी तो बड़ी तीव्रता से प्रहार करते हैं। ऐसा लगता है कि उन्हें जीतने की इच्छा है। पर श्री भरत के मन में जीतने की प्रवृत्ति नहीं। वे गेंद पर प्रहार तो करते हैं, पर उनके लिये प्रहार का अर्थ दूसरा है, वह गेंद उनके लिए गेंद नहीं रह जाता । गेंद को आते देख उन्हें लगता है कि कितना अभागा है यह गेंद, जो प्रभु को छोड़ मेरे पास, मुझ जीव के पास चला आ रहा है। और जो प्रभु का परित्याग करे, उस पर तो इतने जोर का प्रहार करना चाहिए कि फिर वह आने का नाम न ले। और जब गेंद लौटकर प्रभु के पास पहुँचा तो, प्रभु ने क्या किया ? प्रभु के लिए वह गेंद न था। उनके लिए तो वह भरत-जैसे सन्त के पास से भेजी हुई वस्तु था। वे सोचने लगे, जिसे भरत ने मेरे पास भेजा, उस पर प्रहार करना क्या मेरे लिए उचित होगा ? नहीं, नहीं, इसे तो स्वीकार

करना ही उचित है। प्रभु उसे ग्रहण कर लेते हैं और परिणाम यह होता है कि प्रभु खेल में हार जाते हैं। दर्शक लोग सोचते हैं कि यह हार-जीत का खेल हो रहा है, पर वस्तुतः यह भगवान् और भक्त के बीच की क्रीड़ा है। श्री भरत यह अनुभव करते हैं कि प्रभु करुणामय हैं, उन्होंने मुझ-जैसे अनुचर की भावना का भी कितना ध्यान रखा। उनके अन्तःकरण में बड़ा सन्तोष होता है, आनन्द होता है। और इधर भगवान् राम के हृदय में भी आनन्द है। गोस्वामीजी 'गीतावली' (बालकाण्ड, ४५) में लिखते हैं--

सरजुतीर सम सुखद भूमि थल,
गनि गनि गोइयाँ बाँटि लये।
एक कहत भइ हारि रामजू की,
एक कहत भइया भरत जये।
पाइ सखा-सेवक-जाचक भरि,
जनम न दुसरे द्वार गये।

प्रभु प्रसन्न हो जाते हैं कि श्री भरत की विजय हुई। और इस विजयोत्सव के उपलक्ष में भगवान् श्रीराघवेन्द्र सब ब्राह्मणों को, दरिद्रों को नाना प्रकार के दान देते हैं। कहते हैं—यह भरत की विजय के उपलक्ष में है, सन्त की विजय के उपलक्ष में है। पर दर्शक श्री भरत को समझ नहीं पाते हैं। भरतजी का खेल उन्हें मात्र खेल ही दिखायी देता है। श्री भरत जीतकर प्रसन्न होते हैं और भगवान् राम हारकर। उसमें भी लोगों को भगवान् की ही महिमा दिखायी देती है, भरत की नहीं। आगे

फिर एक अवसर आता है। महर्षि विश्वामित्र यज्ञ-रक्षा के लिए दोनों भाइयों की याचना के लिए आते हैं और महाराज दशरथ से कहते हैं---

अनुज समेत देहु रघुनाथा।
निसिचर बध मैं होव सनाथा ॥ १/२०६/१०

---छोटे भाई सहित राघवेन्द्र को दे दीजिए, ताकि राक्षसों का नाश होने पर मैं सुरक्षित रह सकूँ। यहाँ पर भी यदि श्री भरत चाहते, तो हठ कर सकते थे कि मैं भी प्रभु के साथ जाऊँगा, मुझे भी उनके साथ जाने का अधिकार है, मैं भी तो उनका अनुज हूँ। पर वे एक बार भी आग्रह नहीं करते। दर्शकों के मन में पुनः एक बार छाप पड़ती है कि श्री लक्ष्मण प्रभु के बिना नहीं रह सकते, पर श्री भरत रह सकते हैं। लेकिन यह बात नहीं। वास्तविकता तो यह है कि श्री भरत का चरित्र समर्पण का चरित्र है। अपने आप को मिटा देने का चरित्र है। ऐसा समर्पण अन्यत्र दुर्लभ है। या यों कह लें कि भगवान् श्रीकृष्ण के चरित्र में जो स्थान वंशी का है, वही स्थान भगवान् राम के चरित्र में श्री भरत का है। वंशी के ऊपर तो बड़ी बड़ी कविताएँ लिखी गयी हैं। भक्त कवियों ने तो यहाँ तक लिखा है कि वंशी के सौभाग्य को देखकर गोपियों को ईर्ष्या हो जाती थी, यह सोचकर कि इसमें तो कोई गुण नहीं, फिर भी यह प्रतिक्षण श्यामसुन्दर के पास रहती है। कथा आती है---एक बार गोपियों ने सोचा---यह वंशी बड़ी दुखदायिनी है। इसके कारण

हम लोगों का सारा कामकाज ही रुक जाता है। जहाँ श्यामसुन्दर ने इस पर फूँक मारी नहीं कि हम सब बेसुध हो जाती हैं। क्यों न इसे नष्ट कर दिया जाय। वंशी को चुरा लिया गया। पर चुरा लेनें के बाद श्रीराधारानी ने कहा कि पहले इससे वह उपाय तो सीख लिया जाय, जिससे इसने श्यामसुन्दर को अपने वश में कर लिया है। वंशी से पूछा गया--तुममें क्या विशेषता है ? तुम श्यामसुन्दर को इतनी प्रिय क्यों हो ?

वंशी ने कहा--मुझमें कोई विशेषता है ही कहाँ ? देखतीं नहीं, आदि से अन्त तक मुझमें कुछ है ही नहीं। बिलकुल शून्य है।

--फिर श्यामसुन्दर तुमसे इतना प्रेम क्यों करते हैं ?

--मुझमें शून्यता है, इसलिए न मेरी अपनी कोई प्रसन्नता है और न मेरा अपना कोई दुख। श्यामसुन्दर जो स्वर मुझमें फूँक देते हैं, वही स्वर मैं निकाल देती हूँ। श्यामसुन्दर जब मेरे द्वारा किसी गोपी को पुकारना चाहते हैं, तो मैं वही पुकार ध्वनित कर देती हूँ। जब वे मिलन के गीत गाना चाहते हैं, तो मैं मिलन के गीत गाने लगती हूँ। जब वे विरह का संगीत सुनाना चाहते हैं, तो मैं उनके स्वर में रुदन की भाषा बोलने लगती हूँ। बहनो ! न मेरा कोई स्वर है, न मेरा कोई सुख और न मेरा कोई दुख। जो कुछ है, सब उन्हीं का है, मैं तो बिलकुल शून्य हूँ।

श्रीराधारानी ने कहा--धन्य है यह वंशी ! इसनें

अपने आपको पूरी तरह मिटा दिया है । मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार कुछ भी अपने अन्दर नहीं रखा । श्यामसुन्दर के स्वर को ही व्यक्त करना इसकी विशेषता है ।

और यही विशेषता श्री भरतजी की भी है । श्री भरत का चरित्र क्या है ?——ऐसा शून्य, जिसमें भगवान् श्रीराम का संकल्प, उनकी इच्छा पूर्ण होती है । इसीलिए 'रामचरितमानस' में भरतजी के लिए एक दूसरी उपमा का प्रयोग किया गया है, जो वड़ी सार्थक है ।

जव श्री भरत भगवान् राम को लौटा लाने के लिए चित्रकूट जाते हैं, तो देवतागण अत्यन्त भयभीत हो उठते हैं । इसलिए कि उन्हें लगता है कि कहीं भरतजी भगवान् राम से लौटने का आग्रह न करें और प्रेमवश प्रभु लौटने का निर्णय न ले लें । इन्द्र ने गुरु बृहस्पति से पूछा कि यदि श्री भरत भगवान् राम से लौटने को कहें, तो प्रभु लौटेंगे या नहीं ? बृहस्पतिजी ने कहा, "इसमें तो शंका की कोई वात ही नहीं । एक वार भी भरतजी ने यदि भगवान् राम से लौटने को कह दिया, तो प्रभु के लौटने में कोई संशय नहीं ।" इन्द्र घवड़ा गया और कहने लगा, "तव तो महाराज, कोई योजना वनानी चाहिए, जिससे भरतजी की बुद्धि परिर्वातित हो जाय और अनर्थ न घटने पाये ।"

बृहस्पति ने हँसकर पूछा, "भरत की बुद्धि परिर्वातित करने की क्षमता क्या तुममें है ?"

—"नहीं है, महाराज ! पर यदि यह न हुआ, तो

इतनी बड़ी योजना नष्ट हो जायगी। अवतार का सारा उद्देश्य ही नष्ट हो जायगा। यदि राघवेन्द्र लौट गये, तो रावण-वध नहीं हो पायगा।

बृहस्पति बोले, "तुमने यह कैसे जान लिया कि राम लौट जाएँगे ?"

—"आप ही तो कह रहे हैं कि यदि श्रीभरत ने भगवान् राम से लौटने को कहा, तो प्रभु लौट जाएँगे।"

—"पर वे कहेंगे तब न ?"

—"जब वे कहने जा रहे हैं, तब कहेंगे क्यों नहीं ?"

बृहस्पति बोले, "नहीं इन्द्र, तुम डरो मत। तुम भरत को समझ ही नहीं पाये कि वे क्या हैं—

मन थिर करहु देव डरु नाहीं।
भरतहि जानि राम परिछाहीं ॥ २/२६५/४

—"अरे, भरत तो भगवान् राम की छाया हैं। कोई व्यक्ति यदि छाया से डरने लगे और यह सोचने लगे कि यदि छाया चल पड़ी, तो व्यक्ति को भी उसके पीछे चलना पड़ेगा, तो यह बड़ी हास्यास्पद बात होगी। जब व्यक्ति चलेगा, तभी छाया चलेगी। छाया में जो गति और क्रिया दिखायी देती है, वह वास्तव में छाया की अपनी गति और क्रिया नहीं है, वह तो व्यक्ति की गति और क्रिया के परिणामस्वरूप दिखायी पड़ती है। वस्तुतः न छाया चलती है, न उसमें कोई क्रिया ही होती है। वह न तो कुछ सोचती है, न कोई सुख-दुख ही मनाती है। वह तो पूर्णतया व्यक्ति के ही आधीन है। इसी

प्रकार भरतजी भगवान् राम की छाया हैं। उन्होंने अपने मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार को प्रभु में सम्पूर्णतया विलीन कर दिया है और अपने को उनकी छाया बना लिया है। इसलिए भरत वह नहीं कहेंगे, जो तुम सोच रहे हो। श्री भरत के द्वारा वही क्रिया होगी, वही वाणी अभिव्यक्त होगी, जो प्रभु चाहते हैं।"

छाया और व्यक्ति में और कोई अन्तर नहीं, मात्र एक अन्तर है, और वह वहुत बड़ा अन्तर है—वह यह कि व्यक्ति में कुछ स्वार्थ है और छाया में स्वार्थ का सर्वथा अभाव है। भगवान् श्रीराम और भरतजी में यही अन्तर है। भगवान् श्रीराम के लिए 'रामचरितमानस' में कहा मया है——

नीति प्रीति परमारथ स्वारथु।
कोउ न राम सम जान जथारथु ॥२/२५३/५

——नीति, प्रेम, परमार्थ और स्वार्थ को भगवान् राम जैसा यथार्थ में कोई नहीं जानता।

और भरतजी के बारे में कहा गया——

परमारथ स्वारथ सुख सारे।
भरत न सपनेंहुँ मनहुँ निहारे ॥२/२८८/७

——भरतजी ने सपनें में भी परमार्थ, स्वार्थ और सुखों की ओर नहीं ताका है।

भगवान् राम स्वार्थ और परमार्थ दोनों की रक्षा करते हैं और श्री भरत स्वार्थ और परमार्थ दोनों की ओर ही दृष्टि नहीं डालते। बात विलकुल ठीक है।

यदि कोई व्यक्ति स्वस्थ रहना चाहे, तो उसे भोजन करना ही पड़ेगा। पर उसकी छाया को भोजन की आवश्यकता नहीं। आप दस मील चलें, तो आपकी छाया भी चलेगी। चलकर आप थक गये, आपको भूख लग आयी, आपने भोजन किया, भूख दूर हुई, और आपकी छाया ने भी यह सभी कुछ किया, पर वह इन सबसे निर्लिप्त रही। आपके मन में राजा बनने की इच्छा हुई, तो आपने मुकुट धारण किया। आपकी छाया को मुकुट नहीं चाहिए। पर ज्योंही आपके सिर में मुकुट आया, आपकी छाया के सिर पर भी अपने आप मुकुट आ गया। वस्तुतः छाया इतनी निःस्वार्थ है, व्यक्ति के साथ इतनी आबद्ध है कि उसका कोई अलग अस्तित्व ही नहीं। भगवान् राम के साथ श्री भरत ठीक छाया की ही भाँति बँधे हुए हैं। छाया के रूप में चल रहे हैं। उनकी अपनी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं। आदि से अन्त तक उनके जीवन में यही धारणा अभिव्यक्त होती है।

•

केवल वे ही कार्य करते हैं, जिनका विश्वास है कि प्रत्यक्ष कार्य क्षेत्र में कार्य आरम्भ करते ही सहायता अवश्य मिलेगी।

— स्वामी विवेकानन्द

धर्म-प्रसंग में स्वामी ब्रह्मानन्द

अनु० — स्वामी व्योमानन्द

(श्रीमत् स्वामी ब्रह्मानन्दजी महाराज श्रीरामकृष्ण देव के अन्तरंग शिष्य थे तथा रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन के प्रथम अध्यक्ष थे। उनके कुछ उपदेशों का संकलन मूल बंगला ग्रन्थ के रूप में 'उद्बोधन कार्यालय' द्वारा प्रकाशित किया गया है, जिसका धारावाहिक अनुवाद यहाँ पर 'उद्बोधन कार्यालय' के सौजन्य से प्रकाशित किया जा रहा है। ——सं०)

स्थान-शशि निकेतन, पुरी

१९१५

कई लोग कहते हैं कि देश और समाज का काम करूँगा। मुझे मालूम होता है, यह भाव अंग्रेजी शिक्षा की बदहजमी है। स्वयं का चरित्र गठित हुए विना उसके द्वारा दूसरों का कल्याण होना सम्भव नहीं। जिन्होंने उनकी शरण ली है, उनकी कृपा पायी है, वे कभी भी गलत रास्ते पर नहीं जाते। ऐसे लोगों के क्रिया-कलाप, वातचीत और व्यवहार आदि से देश और समाज का मंगल होता है। ठाकुर कहते थे, "खूँटे को छू लेनें से फिर चोर नहीं वनता। पहले खूँटे को पकड़ो।" अर्थात् मनुष्य-जीबन का उद्देश्य है भगवत्प्राप्ति। पहले उन्हें जान लेना होगा, उनके चरणकमलों में भक्ति-विश्वास दृढ़ करना होगा, फिर जो भी दूसरे काम करनें हों, करो। उन्हें जान लेनें से स्वयं के हृदय में शान्ति मिलती है और दूसरों को भी शान्ति दी जा सकती है।

ठाकुर कहते थे, "भक्त का हृदय भगवान् का

बैठक खाना है ।" यदि हम अपना परिचय 'उनका भक्त', 'उनका सेवक', 'उनका दास' कहकर देना चाहते हैं, तो हमें शुद्ध और पवित्र होना होगा । शुद्ध हृदय ही उनका आसन है। अशुद्ध हृदय से वे बहुत दूर रहते हैं। जब हमारा हृदय काँच के समान स्वच्छ और निर्मल होगा, जब उस पर तनिक भी दाग नहीं रहेगा, तभी वह उनका बैठकखाना बनेगा और तभी हम यह कहने के अधिकारी होंगे कि हम उनके भक्त हैं, पुत्र हैं, सेवक और आश्रित हैं ।

शुद्ध मन में उनका प्रतिबिम्ब बहुत साफ पड़ता है। जैसे दर्पण में धूल लगी रहने से मुख ठीक से देखा नहीं जा सकता, वैसे ही अशुद्ध मन में भगवान् का प्रतिबिम्ब ठीक से नहीं पड़ता । तुम लोगों की उम्र अभी कम है, मन में मैल नहीं पड़ा है, अभी से हृदय में उनके लिए आसन बिछाकर रखो, जिससे वहाँ दूसरी चीज को स्थान न मिले । जीवन शुद्ध और पवित्र हुए बिना उन्हें जाना नहीं जा सकता । शुद्ध और पवित्र होओ । उन्हें इसी जीवन में पा लेना होगा ।

सिर्फ पढ़ने-लिखनें से क्या होगा ? बी. ए., एम. ए. पास कर विश्वविद्यालय की डिग्री लेने से या बैरिस्टर होकर पैसा कमानें से ही जीवन चरितार्थ नहीं हो जाता। हाँ, इससे मन में क्षणिक आनन्द अवश्य होगा—पर बस, यहीं तक । किन्तु जिसके लिए इस संसार में आना हुआ, जिसके लिए यह मनुष्य-जन्म मिला, उस दिशा में इससे

कोई सहायता नहीं मिलेगी। इसका यह आशय नहीं कि मैं किसी को मूर्ख बने रहने के लिए कह रहा हूँ। मूर्ख को धर्मलाभ नहीं हो सकता, वह उच्च भाव की धारणा नहीं कर सकता। जो लोग इहकाल में भोग-सुख चाहते हैं, वे अवश्य बी. ए., एम. ए. पास करें, इससे पैसा कमाने में सुविधा होगी। किन्तु जो लोग अनन्त सुख चाहते हैं, उन्हें ज्यादा डिग्री लेने की आवश्यकता नहीं। डिग्री लेनें के लिए पढ़नें-लिखने में जितना समय लगता है, उसका १/१२ वाँ भाग यदि सद्ग्रन्थों के पठन में लगाया जाय, तो हृदय में बड़े ऊँचे भाव प्रवेश करेंगे। ठाकुर कहते थे, "ग्रन्थ नहीं ग्रन्थि"-- अर्थात् गाँठ। उससे वन्धन होता है। किन्तु सद्ग्रन्थ के सम्वन्ध में यह बात लागू नहीं होती,--जैसे गीतादि शास्त्र एवं ठाकुर-स्वामीजी की पुस्तकें। इसके छोड़ जो भी ग्रन्थ क्यों न पढ़ो, उससे अभिमान-अहंकार वढ़ता है और वह भगवान् से वहुत दूर ले जाता है। जिन सब ग्रन्थों के पठन से भगवान् पर भक्ति-प्रेम न हो, श्रद्धा-विश्वास न हो, वे आज अच्छे प्रतीत होने पर भी अन्त में अमंगल का कारण होते हैं। देखो बेटे, यदि मनुष्य बनना चाहते हो, खुद का कल्याण चाहते हो, तो उनके नाम में डूब जाओ। ऊपर ऊपर उतराओ नहीं—एकदम डूब जाओ। 'लक्ष्य की प्राप्ति, अथवा शरीर का नाश'—इसे मूलमंत्र बना लो।

फिर, पैसा होने का भी दोष है। पैसा भला करने की

जगह बुरा ही अधिक करता है। संसार में अधिक अनर्थ रुपये से ही होता है। ठाकुर पैसा नहीं छू सकते थे—चाहे जागते हों या सोते। इस बार आकर उन्होंनें अपनें जीवन द्वारा दिखा दिया कि त्याग ही मनुष्य-जीवन का एकमेव उद्देश्य है। भोग के पीछे दौड़ते-दौड़ते मनुष्य पशु होता जा रहा है। यदि मनुष्य-पद में बने रहने की इच्छा हो, तो त्याग का आश्रय लो, भगवान् का आश्रय लो। उन्हें जानो। क्षणिक आनन्द की आशा त्यागकर अनन्त आनन्द के अधिकारी बनो।

ठाकुर के ज्वलन्त जीवन से देख रहे हो न कि त्याग का तात्पर्य क्या है? हे जीव, भोगबासना का त्याग करो, उनके पादपद्मों में शरण लो, 'मन होश' हो जाओ।

त्याग—एकमात्र त्याग ही शान्ति दे सकता है। उनके लिए सभी का त्याग करो। एकमात्र उन्हीं को अपना बनाओ। तुम्हीं माता-पिता और बन्धु-भ्राता हो, तुम्हीं सब कुछ हो—ऐसा भाव रखो। जब संसार के इन सब भोग-सुखों का त्याग कर हमारा सारा समय उनके चिन्तन और स्मरण-मनन में बीतेगा, तभी हम लोग वास्तव में मनुष्य बनेंगे और सच्चे आनन्द के अधिकारी होंगे। वह आनन्द कैसा है, इसका वर्णन वाणी से नहीं किया जा सकता। उस अवस्था की प्राप्ति हुए विना उसे मात्र वाणी से नहीं समझाया जा सकता।

भगवान्-लाभ के लिए तीन बातों की आवश्यकता है। प्रथम मनुष्य-जन्म, द्वितीय मुक्ति की कामना और

तृतीय महापुरुष का आश्रय। भगवान् की कृपा से तुमने मनुष्य-जन्म तो पाया, सत्संग भी पाया और मुक्त होने की इच्छा भी हुई। अब जीवन को इस प्रकार गढ़ लो, जिससे यह जन्म वृथा न जाय। क्षणस्थाथी भोग के पीछे दौड़कर क्या होगा? अनन्त के अधिकारी बनो। और एक बात याद रखना---मनुष्य-जन्म शायद एक बार फिर से मिल जाय, मुक्ति की इच्छा भी शायद फिर से अगले जन्म में हो जाय, पर अबके समान साधु-संग बार-बार नहीं पाओगे। भाग्य में सब समय महापुरुषों का संग मिलना कठिन है। जन्म-जन्मान्तरों के अनेक पुण्यों और तपस्या के फल से ऐसा सुयोग प्राप्त होता है। सौभाग्य से जब ठाकुर के आश्रय में आ गये हो, तब सावधान रहो, जिससे जीवन व्यर्थ न चला जाय।

विश्वास, विश्वास, केवल विश्वास चाहिए। गुरुभाव में विश्वास करके पड़े रहो। गुरुवाक्य में विश्वास करके पड़े रहने से सब हो जायगा। यदि गुरुवाक्य में विश्वास न हो, तो केवल मंत्र-तंत्र से कुछ नहीं होने का। बिल्ली के बच्चे के समान पड़े रहो। जब जैसी आवश्यकता होगी, गुरु करा लेंगे। तुम्हारी स्वयं की भला कितनी समझ है? उन पर भार देकर पड़े रहो। जिन्हें भार दिया है, उनमें दायित्व-बोध है। वे तुमसे कहीं अधिक तुम्हारे बारे में सोचते हैं। उन पर सोलह आने निर्भर करो, वे सब प्रकार के दुःख-कष्टों से तुम्हारी रक्षा करेंगे। इस विश्व में किसी की सामर्थ्य नहीं कि वह गुरु-आश्रित शिष्य का अनिष्ट

कर सके। उसके चारों तरफ गुरुकृपारूपी लोहे का घेरा होता है। जब तक भगवान्-लाभ नहीं हो जाता, जीवन में अनेक भूलें होने की सम्भावना रहती है। गुरु का आश्रय लेकर रहने से भूल होने की सम्भावना नहीं रहती। मेंड़ पर से पिता-पुत्र के जाने की ठाकुर की वह बात याद है तो? पिता यदि पुत्र का हाथ पकड़ ले, तो उसके गिरने का भय नहीं रहता, किन्तु पुत्र यदि पिता का हाथ पकड़े, तो गिरने का डर बना रहता है। जिन्होंने सद्‌गुरु का आश्रय पाया है, वे यदि उनका आश्रय ग्रहण कर पड़े रहें, तो सद्‌गुरु उनकी गलत धारणा आदि सब सुधार देंगे।

त्याग के बिना शान्ति नहीं मिलती। त्याग चाहिए। भगवान् के लिए, शान्ति के लिए, खुद के कल्याण के लिए सर्वस्व का त्याग चाहिए। पशु ही प्रवृत्ति का दास हुआ करता है ——मनुष्य नहीं। इच्छा करने से ही मनुष्य भगवान् को पा ले सकता है, उनके लिए सब कुछ त्याग सकता है। सब छोड़कर उन्हें दृढ़भाव से पकड़ लो।

त्याग का अर्थ साधू-बाबाजी लोगों के समान शरीर में भस्म लगा चिमटा हाथ में लेकर घूमना नहीं। त्याग के बाहरी दिखावे की कोई कीमत नहीं, कोई लाभ नहीं; वरन् उससे अपकार होता है। वही ठीक ठीक त्यागी है, जिसने भगवान् के चरणों में स्वयं को समर्पित कर दिया है——जिसने 'अपना' कुछ भी नहीं रखा। 'अपना शरीर, मन, बुद्धि सब कुछ तुम्हें दिया, जो इच्छा हो करो——

अपनी चीज का व्यवहार तुम अपनी इच्छानुसार करो'—हममें ऐसा भाव होना चाहिए। सुना नहीं तुमने कि ठाकुर माँ के सिवा कुछ नहीं जानते थे ? माँ जैसा करें। माँ की इच्छा को छोड़ स्वयं की कोई इच्छा नहीं थी। सर्वदा उनसे कहना—"हे प्रभो, मैं भला-बुरा कुछ भी नहीं जानता, न समझता; मैं तुम्हारा हूँ—जो अच्छा समझो करो।" यह भाव अच्छी तरह जगाये रखना। तुम्हारे लिए जब जो आवश्यकता होगी, वे वैसी ही व्यवस्था कर देंगे। प्रार्थना करो, प्रार्थना करो। उनके शरणागत होकर पड़े रहो।

और एक बात ध्यान रखना भगवत्कृपा से जब तुमने यह समझ लिया है कि मनुष्य-जीवन का उद्देश्य है उन्हें प्राप्त करना, तब लोग तुम्हें भला कहें या बुरा, तुम्हारी प्रशंसा करें या निन्दा, दुनिया तुम्हें स्थान दे या न दे, शरीर रहे या चला जाय, तुम अपने Principle (आदर्श) से एक इंच भी नहीं डिगना। इसी जीवन में भगवान्-लाभ कर लेना होगा। इसके लिए चाहे जितने भी दुःख। कष्टों का सामना करना पड़े, सब सह लेना होगा। यदि इस प्रकार जीवन गठित कर सको, तभी तुम मनुष्य हो और ठाकुर का नाम लेने के अधिकारी हो, और तभी तुम्हारा साधु-संग करना सार्थक हुआ। यदि ऐसा न कर सको, तो समझूँगा कि तुम दो हाथ, दो पैर वाले एक जानवर मात्र हो। और एक बात स्पष्ट कर दूँ। 'गुरु' कहने से हम क्या समझते हैं ? जो बीज को मंत्र से जोड़कर

कान में फूँक देता है, साधारणतः हम उसी को गुरु कहते हैं।' पर सिद्ध पुरुष के सिवा किसी को भी गुरु होने का अधिकार नहीं। जिसे स्वयं का रास्ता नहीं मालूम, वह दूसरे को रास्ता भला कैसे दिखा सकेगा ? हाँ यह सही है कि मंत्रशक्ति सबमें समान रूप से विद्यमान है, पर यदि उसे प्रकट करने की विधि ठीक ठीक न मालूम हो, तो गुरु और शिष्य दोनों ही समुचित उन्नति नहीं कर पाते। इसीलिए शिष्य को हार्दिक शान्ति नहीं मिल पाती। ठाकुर आकर इस बार रास्ता दिखा गये हैं। अमूल्य रत्न इन लोगों के (ठाकुर के शिष्यों के) भण्डार में हैं। जो भी सदाचारी, विश्वासी और भक्तिमान होगा, उसे यहाँ आना ही होगा। अन्य दूसरी जगह कहीं भी शान्ति नहीं। इन लोगों के पास से जिसने जो कुछ पाया है, यदि वह उस पर विश्वास रख अपना जीवन गढ़ता चले, तो वह अवश्य ही अपार आनन्द का अधिकारी होगा, मनुष्यत्व प्राप्त करेगा। ये इस युग की विचारधारा में पले हुए लोग हैं, अतः ये अच्छी तरह जानते हैं कि इस युग में किस प्रकार से शिक्षा-दीक्षा देनी चाहिए। जिसकी जिस तरह से उन्नति होगी, उसे वे उसी तरह से उपदेश देते हैं। किसी को विधि के अनुसार दीक्षा देते हैं, किसी को उपदेश के द्वारा, तो किसी को स्वप्न में। जिसके भाग्य में जैसा जुटा, वह उस पर विश्वास कर आगे बढ़े, सरल हृदय से गुरु के पास प्रार्थना करे, फिर जो भी आवश्यकता होगी, वे पूरी करेंगे—चाहे वे नर-शरीर में रहें या न

रहें। जो असल गुरु हैं, वे शिष्य के ज्ञानलाभ होते तक, उसकी मुक्ति तक उसे रास्ता दिखाने के लिए बाट जोहते रहते हैं। शिष्य के लिए गुरु बीच बीच में स्थूल रूप से प्रकट भी होते हैं।

परिश्रम करो, परिश्रम करो। जो पाया है, उसे जीवन में उतारने के लिए सन्देह छोड़कर जी-जान से लग जाओ—ढोल पीटकर नहीं, बल्कि बहुत ही गुप्त रीति से, जिससे लोगों को मालूम तक न हो। नाना प्रकार के लोग रहते हैं। कोई हँसी-ठिठोली कर भाव नष्ट कर देते हैं, तो कोई प्रशंसा कर अहंकार बढ़ा देते हैं। ठाकुर की यह बात याद रखो—"ध्यान करना मन में, वन में और कोने में।" अर्थात्, जहाँ तक हो सके, ऐसा प्रयत्न करना कि साधन-भजन, स्मरण-मनन लोगों की दृष्टि में न पड़े। कुछ दिन अच्छी तरह लग कर साधन-भजन करो तो सही, देखोगे कितना मजा है, कितना आनन्द है! देखोगे तुम नये व्यक्ति हो गये हो। जब सब छोड़कर उनके आश्रय में आये हो, तो प्रतिज्ञा करो कि इस जीवन में ही उन्हें प्राप्त करूँगा। जब सद्-गुरु का आश्रय पाया है, तब चिन्ता किस बात की? होगा ही।

●

दिव्य त्रिमूर्ति—श्रीरामकृष्ण, माँ सारदा और स्वामी विवेकानन्द

बी. डी. जत्ती

(भारत के उप-राष्ट्रपति महोदय ने चंडीगढ़ स्थित रामकृष्ण मिशन आश्रम में भगवान् श्रीरामकृष्ण, श्री माँ सारदा देवी और स्वामी विवेकानन्द के सम्मिलित जन्मोत्सव के उपलक्ष में आयोजित सभा की अध्यक्षता करते हुए विगत ३० मार्च को अँगरेजी में जो अध्यक्षीय भाषण दिया था, प्रस्तुत लेख उसी का अनुवाद है। —सं०)

मैं स्वामीजी का आभारी हूँ, जिन्होंने मुझे आज आपके बीच यहाँ उपस्थित होने का तथा भगवान् श्रीरामकृष्ण परमहंस, सारदा देवी एवं स्वामी विवेकानन्द के जन्मोत्सव में सम्मलित होने का अवसर प्रदान किया।

यह सुविदित है कि उन्नीसवीं शताब्दी में श्रीरामकृष्ण के आविर्भाव से हिन्दू समाज का आध्यात्मिक पुनर्जन्म हुआ। अँगरेजों की पूर्णतः राजनैतिक दासता ने सांस्कृतिक मतिभ्रम को जन्म दिया था और हमारे देशवासी, पश्चिम से गहरी तरह प्रभावित जीवन-पद्धति और विचारधारा के फलस्वरूप, तेजी के साथ अपनी सांस्कृतिक विरासत से दूर चले जा रहे थे। ऐसे समय वह श्रीरामकृष्ण का ही प्रभाव था, जिसने बड़ी मात्रा में पुनर्जागरण को आवश्यक गतिशीलता प्रदान की। उसने देश में सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्यों को पूरी तरह पुनरुज्जीवित किया और वह हिन्दू धर्म के सन्देश को सागर-पार दूसरे देशों में ले गया।

पुनर्जागरण की प्रथम हलचल बंगाल में प्रकट हुई। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर और केशवचन्द्र सेन के नेतृत्व में ब्रह्मसमाज ने हिन्दू धर्म और समाज को उदार बनाने का प्रयास किया। पंजाब में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 'वेदों के शुद्ध लौहाधार पर एक गतिशील धर्ममत' को जन्म दिया और उनके आर्यसमाज ने उस भू-भाग के हिन्दू समाज को नवचेतना प्रदान की। कुछ इसी प्रकार का कार्य दक्षिण में थियोसॉफिकल सोसायटी ने किया।

जैसा कि महात्मा गाँधी ने कहा है, श्रीरामकृष्ण परमहंस के जीवन की कहानी धर्म के व्यवहार की कहानी है। उनका जीवन हमें ईश्वर को प्रत्यक्ष देखने की शक्ति देता है। उनके जीवन की कहानी को पढ़कर कोई यह विश्वास किये विना रह ही नहीं सकता कि मात्र ईश्वर ही सत्य है और शेष सब कुछ भ्रम।

श्रीरामकृष्ण का सन्देश क्या था? सभी धर्म सत्य हैं; धर्मों के बीच झगड़े का कोई प्रयोजन नहीं। कितना सरल उपदेश है यह! निस्सन्देह, संसार ने इस उपदेश को पहले भी सुना है; पर श्रीरामकृष्ण के उक्त उपदेश में एक महान् अन्तर था, क्योंकि 'He spoke as one with authority and not as the scribes'. (वे अधिकार के साथ ऐसा बोले, लिपिकारों के समान नहीं)। जहाँ तक हिन्दू धर्म का सम्वन्ध था, उनका वह उपदेश मात्र वेदों और उपनिषदों के ही तत्त्वों का पुनरुद्घाटन था। वृक्ष का मूल्यांकन उसके सुपरिपक्व फलों से ही करना

चाहिए—धर्म का फल है साधुता, जिसका पर्याय है चरित्र, और चरित्र वह है, जिसका पर्याय है साधुता। इस मापदण्ड से देखने पर हमें विदित होगा कि सभी धर्मों नें ऐसे नर-नारियों को जन्म दिया है, जो चरित्र और साधुता की दृष्टि से अति श्रेष्ठ थे। अतएव श्रीरामकृष्ण के अनुसार, धार्मिक होने का तात्पर्य है ईश्वर के दर्शन का प्रयास करना; न तो कुछ कम, न अधिक। केवल घोषणाएँ पर्याप्त नहीं हैं, वरन् हमें उस सत्ता में रहना, चलना और विभोर होना चाहिए, जिसे ईश्वर कहते हैं। धर्महीनता की अपेक्षा उपेक्षा धर्म की कहीं बड़ी शत्रु है। बाइविल के मसीहा के शब्दों में, A lengthening of the ropes requires a strengthening of the stakes (रस्सियों को लम्बा करने के लिए खम्भों को मजबूत बनाना आवश्यक है)। मानवजाति के आध्यात्मिक जीवन को गहरा बनाने की आवश्यकता है। आध्यात्मिकता ही धर्म का सार है; केवल वही धर्म की भूखी आत्मा को शान्त कर सकती है। सिद्धान्त और सम्प्रदाय तो भूखे मानव के लिए पत्थर के समान हैं। वे मानवता को खण्डित करते हैं और झगड़ों को जन्म देते हैं। इन झगड़ों ने धर्म को घृणास्पद बनाया है। आवश्यकता है धर्मों के बीच परस्पर सौहार्द की, और यह तभी आ सकता है, जव हम समस्त धर्मों की मौलिक एकता का अनुभव करेंगे।

श्रीरामकृष्ण ईश्वर-भावापन्न दैवी पुरुष थे। जो भी

उनके सम्पर्क में आया, वह उनसे प्रभावित हुआ। इन असाधारण विभूतियों ने अपनी और आनेवाली पीढ़ियों को प्रबलरूपेण प्रभावित किया है। उन्होंने महान् पुरुषों को भी जबरदस्त रूप से प्रभावित करते हुए उनकी जीवन-धारा को मोड़ दिया है। यह तो स्पष्ट ही है कि श्रीरामकृष्ण परमहंस का व्यक्तित्व जनसाधारण के व्यक्तित्व से सर्वथा पृथक् था। वे तो भारत के उन महान् ऋषियों की परम्परा के थे, जो समय समय पर हमारा ध्यान जीवन के उच्चतर मूल्यों और आत्मा की ओर आकर्षित करने के लिए आये; क्योंकि भारत ने अपनें दीर्घ इतिहास के काल में, अपनी अन्य सांसारिक गति-विधियों के बावजूद, जीवन के आध्यात्मिक मूल्यों की कभी उपेक्षा नहीं की। वह सदंव सत्य की खोज पर किसी न किसी मात्रा में बल देता रहा और उसने हमेशा ऐसे सत्यान्वेषियों का स्वागत किया—भले ही ये सत्या-न्वेषी अपने को किसी भी नाम से क्यों न पुकारते रहे हों। इस प्रकार भारत ने सत्य और यथार्थ सत्ता की खोज की एक परम्परा कायम की, और साथ ही उन सबके प्रति पूर्ण सहिष्णुता की परम्परा भी, जो निष्ठा-पूर्वक अपने ढंग से सत्य को पाने का प्रयास करते हैं।

श्रीरामकृष्ण की उदार और सर्वग्राही दृष्टि उन्हें उस धर्म के दायरे से निकाल बाहर ले गयी, जिसमें वे जन्मे थे। सन् १८६६ ई० में वे इस्लाम धर्म में दीक्षित होकर एक धर्मप्राण मुस्लिम की तरह उपासना में दिन

बिताने लगे और अन्त में ईश्वर के उस निराकार रूप की अनुभूति की, जो इस्लाम धर्म-ग्रन्थों का चरम गम्य है। कुछ वर्ष उपरान्त उन्होंने ईसाई धर्म का अध्ययन किया और उसके उपदेशों और दर्शन के साथ अपने को एकरूप कर लिया तथा मरियम एवं शिशु-ईसा के प्रति अनुरक्त हो गये। उन्होंने अनुभव किया कि ये विदेशी पन्थ भी उसी दिव्यता की स्थिति को प्राप्त कराते हैं। उन्होंने देखा कि सारे धर्म, विश्व के चरम और आदि कारण के रूप में, उसी ईश्वर को लक्ष्य करते हैं। यह उचित ही कहा है कि आध्यात्मिक अनुभव के समस्त स्वरों की अभिव्यंजना करने के कारण श्रीरामकृष्ण का जीवन और सन्देश सभी देशों के सकल लोगों के लिए अनुकरणीय है। डा० सिल्वीन लेवी के शब्दों में, "चूँकि रामकृष्ण का हृदय और मस्तिष्क समस्त देशों के लिए था, इसलिए उनका नाम भी मानवजाति की सर्वसाधारण सम्पत्ति हैं।" श्रीरामकृष्ण का कथन है कि, "यदि निष्ठा और लगन हो, तो साधक किसी भी धर्म के द्वारा ईश्वर का साक्षात्कार कर सकता है। वैष्णव ईश्वर का दर्शन करेंगे, उसी प्रकार शाक्त भी, वेदान्ती और ब्रह्म-समाजी भी। मुसलमान और ईसाई भी उनके दर्शन करेंगे। जो भी अध्यवसायी और निष्ठावान है, वह अवश्य ईश्वर के दर्शन करेगा।"

हिन्दू धर्म को विश्व के प्राचीनतम जीवित धर्मों में गिना जाता है। उसके सुदीर्घ इतिहास का दायरा

ईसवी पूर्व २००० वर्ष से आज तक इन चार हजार वर्षों का रहा है। हिन्दू धर्म का दूसरे धर्मों के प्रति क्या दृष्टिकोण रहा है? ऋग्वेद घोषणा करता है—"आ नो भद्राः ऋतवो यन्तु विश्वतः" (शुभ विचार सभी दिशाओं से हमारे पास आएँ)। उसका यह दृष्टिकोण उसके इस गम्भीर सत्य की अनुभूति का फल है, जो कहता है––"एकं सद् विप्रा वहुधा वदन्ति" (सत्य एक है, ज्ञानीजन उसे वहुत से नामों से पुकारते हैं)। हिन्दू धर्म की यह धारणा है कि सत्य के उतने ही पहलू हैं, जितने कि उसके देखनेवाले। इसीलिए हम हिन्दू धर्म में आश्चर्यजनक विविधता पाते हैं। यहाँ तक कि, नास्तिकता और अज्ञेयवाद भी वेदों के लिए अपरिचित नहीं हैं। यदि हम वहाँ 'विचार-स्वातंत्र्य' सम्बन्धी उद्धरणों पर ध्यान दें, तो उपर्युक्त कथन की पुष्टि हो सकेगी। भगवद्गीता में हम सवको साथ लेकर चलने का भाव पाते हैं––

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

—'मनुष्य जिस प्रकार से भी मेरी ओर आते हैं, मैं उन्हें उसी प्रकार से ग्रहण करता हूँ, क्योंकि हे पार्थ, वे जिस रास्ते से भी क्यों न चलें, वह सव तरह से मुझे ही पाने का रास्ता है।'

यह तो सुविदित ही है कि श्रीरामकृष्ण नें शब्दों की वजाय अपने जीवन के द्वारा कहीं अधिक उपदेश दिया। उनके उपदेश विद्वत्तापूर्ण लेखों या भाषणों द्वारा

नहीं दिये गये, वे तो अनौपचारिक वार्तालापों के माध्यम से दिये गये, जिन्हें विश्वासी शिष्यों ने प्रामाणिकता के साथ लिपिबद्ध कर लिया। उनके उपदेशों में हमें बहुत से सत्यों का दर्शन होता है, पर ऐसे संक्षिप्त भाषण में उन सब पर चर्चा करना यदि असम्भव न हो, तो बहुत कठिन अवश्य होगा। तथापि यह तो सब जानते ही हैं कि उन्होंने उस चेतन शक्ति को वह परम सत्ता माना, जिसे विश्व के विभिन्न धर्मों ने गॉड, अल्लाह, बुद्ध, शिव, विष्णु, ब्रह्म आदि नामों से पुकारा है। अपने व्यापक रूप में यह सत्ता जड़ और चेतन समस्त भूतों के साथ उनके कारण, अवलम्ब और आधार के रूप में घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। वह दैवी सत्ता यद्यपि सर्वभूतों में विद्यमान है, फिर भी एक भक्त के लिए वह उसका प्रेमास्पद ईश्वर है और उसके हृदय के बिलकुल समीप है। श्रीरामकृष्ण ने कहा कि मानवजाति को रास्ता बत-लाने के लिए ईश्वर समय समय पर, महान् पावित्र्य और शक्ति से सम्पन्न मनुष्य के रूप में अवतीर्ण होते हैं। सभी महान् धर्मों के संस्थापकों को इसी प्रकार दैवी सत्ता की अभिव्यक्ति समझना चाहिए, जो लोगों के द्वारा पूजनीय हैं। श्रीरामकृष्ण ने एक अविकल नैतिक जीवन को आध्यात्मिक जीवन के आधार के रूप में देखा। एक सच्चे साधक को त्याग और निःस्वार्थता का अभ्यास करना पड़ता है। त्याग का भाव जीवन में चरित्र की शुद्धता, दूसरों की सेवा और सत्य की अविकल खोज के रूप में

प्रकट होता है। स्वामी विवेकानन्द ने श्रीरामकृष्ण के जीवन-कार्य को गति देने तथा उनके सन्देश को प्रचारित और प्रसारित करने के लिए सन् १८९७ में जिस 'मिशन' की स्थापना की, उसकी बुनियाद में त्याग, पावित्र्य और निष्काम सेवा के ये ही आदर्श हैं।

मैं यहाँ पर स्वामी सारदानन्द प्रणीत 'श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग' से एक उद्धरण देता हूँ।

"श्रीरामकृष्ण से बहुधा पूछा जाता, 'हम संसार में कैसे रहें?' वे इस प्रश्न का उत्तर कई प्रकार की उपमाओं से देते, जिनका सार यह होता—'अपने सारे कर्तव्य कर्म करो, पर अपना मन भगवान् में रखो'।"

'श्रीरामकृष्णवचनामृत' में 'म' ने श्रीरामकृष्ण के साथ दूसरी भेंट की बात कही है, जब उन्होंने श्रीरामकृष्ण से यही प्रश्न पूछा था। श्रीरामकृष्ण उत्तर में कहते हैं—"अपने सारे कर्त्तव्य-कर्म करो, पर अपना मन भगवान् में रखो। सबके साथ रहो—पत्नी, बच्चे, माता, पिता सबके साथ, और उनकी सेवा करो। उनके प्रति ऐसा व्यवहार करो मानों वे तुम्हारे अत्यन्त प्रियजन हों, पर अपने अन्तस्तल में जानो कि वे तुम्हारे नहीं हैं।"

आज जब हम भगवान् श्रीरामकृष्ण की जयन्ती मना रहे हैं, तो यह मुझे एक योग्य अवसर प्रतीत होता है, जब हम उनके जीवन की उन घटनाओं का चिन्तन करके लाभ उठाएँ, जो उनके अवतारत्व को प्रकट करती हैं और यह बताती हैं कि कैसे उनके दैवी व्यक्तित्व ने उनके

समीप आनेवाले लोगों को प्रभावित किया। इसीलिए मैंने 'पुण्य स्मरण' के रूप में इस महान् सन्त के जीवन की कुछ विशेष महत्त्वपूर्ण घटनाओं की ओर संकेत किया है। मैं अपने को सौभाग्यशाली मानता हूँ कि इस पुनीत अवसर पर मैं यहाँ उपस्थित हो सका और श्रीरामकृष्ण को अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित कर सका, जिनकी शाश्वत आत्मा समस्त साधकों को मनुष्य में निहित दिव्यता की अनुभूति का मार्ग प्रदर्शित करती है।

× × ×

श्रीरामकृष्ण की लीलासहधर्मिणी श्री सारदा देवी लक्ष लक्ष भक्तों के समीप 'श्री माँ' के नाम से परिचित हैं। उनका जन्म एक सरल, ग्राम्य वातावरण में हुआ था, और छह वर्ष की अल्प अवस्था में उनका श्रीरामकृष्ण से विवाह हो गया। श्रीरामकृष्ण के जीवन में अन्य घटनाओं की भाँति, यह विवाह की घटना भी उल्लेखनीय है। श्री माँ को श्रीरामकृष्ण के निकट सम्पर्क में आने का अवसर विवाह से बहुत बाद, सन् १८६७ ई० में लगा। श्रीरामकृष्ण ने उनकी उपेक्षा नहीं की, पर उन्हें अपने अधिकार में लिया और धीरे धीरे, स्नेहपूर्वक उन्हें मानव-चरित्र की सर्वांगीण शिक्षा दी तथा यह सिखाया कि कैसे ईश्वर के प्रति पूरी तरह समर्पित होकर रहा जाय। उन्होंने अक्षरशः जगन्माता के रूप में अपनी पत्नी की पूजा की, और यह कहते हुए कि वह और मन्दिर में विराजित माँ-काली दोनों एक और अभिन्न हैं,

श्री माँ में समस्त प्राणियों के प्रति विश्वात्मक मातृभाव को जागृत कर दिया। श्री माँ का सरल और कठोर जीवन, निरभिमानिता और सबके प्रति उनका निश्छल मातृ-स्नेह अपूर्व था। उनका जीवन एक सुदीर्घ मौन प्रार्थना का, ऐकान्तिक भक्ति का जीवन था।

उनका उच्छलित स्नेह उन सभी को शान्ति और सान्त्वना प्रदान करता, जो दग्ध हृदय ले, संसार की दुश्चिन्ताओं से मुक्ति और शाश्वत शान्ति पाने की कामना ले उनके चरणों में शरण लेते। उग्र तनावों से क्षुब्ध होकर स्त्री और पुरुष समय-कुसमय उनके पास उपस्थित होते और उनका अमृततुल्य आशीर्वाद पाकर अपने को धन्य अनुभव करते। श्री माँ के स्नेह-भरे विवेकयुक्त वचन उनके हृदय की टीसभरी पीड़ा को सदा के लिए समाप्त कर देते। निश्छल सरलता, पवित्रता, धार्मिकता और स्वार्थ-त्याग से युक्त श्री माँ के जीवन में आज का हिन्दू अपनी संस्कृति द्वारा उद्घोषित नारीत्व के चरम आदर्श के दर्शन कर सकता है। उनमें सेवा-परायण पत्नी, चरम संन्यासिनी, स्नेहपूर्ण माता और आदर्श गुरु इन सबका अपूर्व सम्मिलन हुआ था। वे सचमुच 'भारतीय नारीत्व के आदर्श के सम्बन्ध में श्रीरामकृष्ण के अन्तिम शब्द' थीं।

उन्नीस वर्ष के भरे यौवन में श्री सारदा देवी अपने पति श्रीरामकृष्ण परमहंस के साथ रहने दक्षिणेश्वर गयीं। श्रीरामकृष्ण तो दैवी प्रेम के मूर्त विग्रह थे।

उन्होंने स्नेहपूर्वक अपनी संकोचशील पत्नी से पूछा कि क्या वह उन्हें संसार में खींचने आयी है ? "नहीं," पत्नी ने तुरन्त और दृढ़ स्वर में उत्तर दिया, "मैं तुम्हें संसार में भला क्यों खींचने चली ? मैं तो तुम्हारी सेवा करनें यहाँ आयी हूँ, जिससे तुम अपने चुने हुए मार्ग पर आगे बढ़ चलो।" जो सारदा ने कहा, सोच-समझकर कहा, और अपने सन्त पति के जीवन की अन्तिम घड़ी तक उसका निर्वाह किया। श्रीरामकृष्ण ने बाद में अपने भक्तों से यह कहा था, "यदि वह (सारदा) भिन्न स्वभाव की होती और मुझ पर वासना की झंझा में आकर टूट पड़ती, तो कौन कह सकता है कि मैं कहाँ तक जाता !" वास्तव में, सारदा देवी का स्फटिक के समान स्वच्छ मन अपने पति के मन की ही भाँति इन्द्रिय-लोलुपता की सीमा से बहुत ऊपर उठा हुआ था। उनकी नैसर्गिक साधुता पति से एकदम मेल खाती थी और उसने यह सम्भव कर दिया कि विश्व दाम्पत्य जीवन का एक अभूतपूर्व आदर्श देखे !

श्रीरामकृष्ण की महासमाधि के बाद श्री माँ ने अपने ऊपर अपने पति की आध्यात्मिक सन्तानों का भार ग्रहण किया और उनको केन्द्र बनाकर धीरे धीरे यह विशाल रामकृष्ण संघ गठित और विकसित हुआ।

× × ×

यह भारत का सौभाग्य रहा है कि जब जब धर्म की ग्लानि हुई और आध्यात्मिक मतिभ्रम उत्पन्न हुआ है,

तब तब धार्मिक विचारधारा के प्रामाणिक व्याख्याता यहाँ आविर्भूत हुए हैं और उन्होंने संत्रस्त पीढ़ियों का का ध्यान भारतीय संस्कृति के मौलिक सत्यों की ओर आकर्षित किया है। स्वामी विवेकानन्द ने अनुभव किया कि धर्म का अर्थ है उस दैवी सत्ता से एकरूप हो जाना। जिसे भी आध्यात्मिक अनुभव हुआ है, वह स्वीकार करता है कि प्रत्येक व्यक्ति में अपने दिव्य स्वरूप की प्राप्ति की सम्भावना है। स्वामी विवेकानन्द नें देखा कि यद्यपि भारत में हमने महान् सत्यों को स्वीकार तो किया, पर व्यवहार में हम उन सत्यों से दूर ही रहे। अतएव उन्होंने हमें इन मौलिक सत्यों को जीवन में उतारने के लिए उद्बुद्ध किया। आध्यात्मिक अनुभूति और समाज-सेवा ये धार्मिक दृष्टिकोण के दो पहलू हैं। आज यदि हम धर्म-मतों को बाँटनेवाले झगड़ों से मुक्त होना चाहते हैं और लोगों को पीड़ित करनेवाली मनुष्य-निर्मित विकृतियों को नष्ट करना चाहते हैं, तो यथार्थ धार्मिक दृष्टिकोण क्या है इसे समझना चाहिए और उसका प्रचार करना चाहिए।

भले ही विवेकानन्द ने जॉन स्टुअर्ट मिल, हर्बर्ट स्पेन्सर, डेविड ह्यूम की कृतियों को पढ़ा था, पर उनका मन बड़ा विक्षुब्ध था। वे सत्य का पता पाना चाहते थे। उसके लिए वे कई जगह भटके और अन्त में जाकर उनकी भेंट श्रीरामकृष्ण परमहंस से हुई। उनके व्यक्तित्व उनकी धारणा की दृढ़ता और ईश्वर के लिए उनके आकुल प्रेम ने विवेकानन्द के जीवन और कर्म पर

उल्लेखनीय प्रभाव डाला। जब वे दार्शनिकों और चिन्तकों से पूछ-पूछकर थक गये, जब वे सत्य की घोषणा करनेवाले समाजों में जा-जाकर अधीर हो गये, तो एक दिन वे श्रीरामकृष्ण के पास गये और उनसे पूछा, "क्या आपनें ईश्वर को देखा है? उत्तर मिला, "हाँ, मैंने उन्हें देखा है; ऐसे ही, जैसे मैं तुम्हें देखता हूँ--पर हाँ, अधिक स्पष्टत: और अधिक तीव्रतापूर्वक।" श्रीरामकृष्ण का उत्तर कोई तर्क-वितर्क का उत्तर नहीं था; न वह अनुमान का उत्तर था; उन्होंने अपनी व्यक्तिगत अनुभूति के आधार पर ऐसा कहा और घोषणा की कि वे ईश्वर की सत्ता का अनुभव अपने स्वयं के जीवन में, अपनी रग रग में करते हैं और लगभग सारा जीवन ही उसे प्रत्यक्षत: देखते रहे हैं। इस उत्तर ने स्वामी विवेकानन्द के जीवन में गहरा परिवर्तन साधित किया। यह हमारे देश की परम्परा है कि धर्म न तो तर्क में है, न अनुमान में; 'न मेधया न बहुना श्रुतेन'--न बुद्धि की शक्ति में, न शास्त्रों के पठन में, वह तो परमात्मा को साक्षात् देखने में निहित है।

बुद्ध के ही समान एक बार स्वामी विवेकानन्द के जीवन में भी ऐसा क्षण आया था, जब उन्होंने सोचा कि अपने को आत्मिक जीवन के--ध्यान के आनन्द में डूबा लूँ और संसार में वापस न लौटूँ। पर श्रीरामकृष्ण ने उनका तिरस्कार किया; कहा, "धिक्कार है तुझे! तू अपनी व्यक्तिगत मुक्ति के लिए इतना कातर क्यों हो रहा है? शिवमात्मनि पश्यन्ति--वह शिव समस्त जीवों

में विद्यमान है। इन सबको शिव का ही मूर्त रूप समझना चाहिए।" विवेकानन्द ने सारी मानवता का दुःख अपने भीतर अनुभव किया। वे चाहते थे कि प्रत्येक व्यक्ति जिये, और अच्छा जीवन व्यतीत करे। हममें से बहुतेरे रहते तो है, पर जीते नहीं हैं। वे चाहते थे कि हममें से प्रत्येक शक्ति, सौन्दर्य, बल और गरिमा का अधिकारी बने तथा सच्चा मानव बने। हम आज वह नहीं हैं। उन्होंने हमारे देश के कष्टों को देखा। उन्होंने गरीबी और भूख से मर जानेवाले उन लक्ष लक्ष लोगों को देखा और कहा, "मैं दरिद्रनारायण का पुजारी हूँ--उस नारायण का, जो इस संसार के समस्त निर्धनों में वास करता है। जब तक वे लोग बने हुए हैं, मैं भला कैसे अपनी स्वयं की मुक्ति और अपने स्वयं के कल्याण से तुष्ट हो सकता हूँ? उनकी ओर ध्यान देना मेरा कर्तव्य है। ईश्वर को पाने का सबसे श्रेष्ठ रास्ता है--मनुष्य की सेवा।" उन्होंने देशप्रेम से भरे धर्म का उपदेश दिया पर उनका देशप्रेम संकीर्ण अर्थों की देशभक्ति नहीं था— वह था मानवता का धर्म। उनका धर्म ऐसा था, जिसने हमें सारे मनुष्यों को एक विराट् परिवार के सदस्य के रूप में देखने की शिक्षा दी। उन्होंने इसे 'मनुष्य-निर्माण करनेवाला धर्म' कहा। वह एक मानवतावादी धर्म है। ध्यानपरक जीवन और समाज-सेवा में कोई विरोध नहीं है।

त्याग, साहस, सेवा, अनुशासन--ये आदर्श-वाक्य हैं, जो हम उनके जीवन से सीख सकते हैं। एक समय

था, जब श्रीरामकृष्ण ने उन्हें नेतृत्व के लिए चुना था। उनके अपने शिष्यों के प्रति यदि कोई अन्तिम शब्द थे, तो स्वामी विवेकानन्द के ही प्रति थे, जब उन्होंने कहा था, "इन लड़कों को देखना"। उनमें से कई उनकी अपेक्षा उम्र में बड़े थे। पर आदेश तो दे दिया गया था— दैवी आदेश !

ऐसे अवसर पर यह उचित है कि हम इन महान् आत्माओं द्वारा दिये गये महान् उपदेशों का स्मरण करें। हम उनका स्मरण करें। हम ठान लें कि हम एक उद्देश्य की पूर्ति के लिए जियेंगे—ऐसा उद्देश्य, जो हमें ऊँचा उठाता है, उदात्त बनाता है। और वास्तव में वही श्रीरामकृष्ण परमहंस, श्री माँ एवं स्वामी विवेकानन्द के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

जय हिन्द !

•

"उठो, और काम में लग जाओ। यह जीवन भला है कितने दिन ? जब तुम इस दुनिया में आये हो, तो कुछ चिह्न छोड़ जाओ। अन्यथा तुममें और वृक्ष आदि में अन्तर ही क्या ?—वे भी तो पैदा होते हैं, परिणाम को प्राप्त होते हैं और मर जाते हैं।"

—स्वामी विवेकानन्द

मृत्यु-भय को जीतने का मंत्र

(गीताध्याय २, श्लोक २६-२८)

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥२६॥

(अथ च) पर यदि (एनं) इस [आत्मा] को (नित्यजातं) नित्य जन्म लेनेवाला (नित्यं वा) अथवा नित्य (मृतं) मरनेवाला (मन्यसे) मानता है (तथापि) फिर भी (महाबाहो) हे महाबाहो (त्वं) तू (एनं) इसे (शोचितुं) शोक करने के लिए (न अर्हसि) योग्य नहीं है।

"पर यदि तू आत्मा को नित्य जन्म लेनेवाला और नित्य मरनेवाला ही मानता है, तो भी हे महाबाहो, तुझे इस सम्बन्ध में शोक करना उचित नहीं।"

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७॥

(हि) क्योंकि (जातस्य) जन्म लिये हुए का (मृत्युः) मरण (ध्रुवः) निश्चित है (मृतस्य च) और मरे हुए का (जन्म) जन्म (ध्रुवं) निश्चित है (तस्मात्) अतएव (अपरिहार्ये अर्थे) अपरिहार्य बात के लिए (त्वं) तू (शोचितुं) शोक करने के लिए (न अर्हसि) योग्य नहीं है।

"कारण यह है कि जिसका जन्म होता है, उसकी मृत्यु भी निश्चित है और जिसकी मृत्यु होती है, उसका जन्म भी निश्चित है। अतः ऐसी अपरिहार्य बातों के लिए शोक करना तुझे उचित नहीं।"

पिछले तीन श्लोकों में भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन

को आत्मा की अमरता और अपरिवर्तनशीलता का उपदेश देते हुए यह कहा कि स्वरूप की दृष्टि से आत्मा के लिए शोक करना उचित नहीं, क्योंकि आत्मा का न तो नाश होता है और न उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन ही होता है। जिन सम्बन्धियों और गुरुजनों की मृत्यु की बात सोच तू दुःखी हो रहा है, वे तो आत्मा की दृष्टि से नित्य और अविनाशी हैं। अतएव वे किसी प्रकार शोक के योग्य नहीं।

पर भगवान् ने देखा कि अर्जुन इस ज्ञान का ग्रहण नहीं कर पा रहा है। हाड़-मांस के ठोस इन्द्रिय-गोचर मनुष्य को अतीन्द्रिय आत्मतत्त्व समझना है भी कठिन। जब तक अन्तःकरण में विद्यमान वासना का रस सूख नहीं जाता, तब तक आत्मतत्त्व की प्रतीति अत्यन्त कठिन है। श्रीरामकृष्ण देव से भक्तों ने पूछा—"महाराज, शास्त्र कहते हैं और आप जैसे सन्त-महात्मा भी उपदेश देते हैं कि मनुष्य का यथार्थ स्वरूप देह नहीं, मन नहीं, बल्कि आत्मा है, तो फिर इस आत्मा का बोध क्यों नहीं होता ? जैसे हम देह को देखते हैं, मन का अनुभव करते हैं, वैसे ही आत्मा का बोध क्यों नहीं करते ?" इस पर उत्तर में श्रीरामकृष्ण देव ने 'डाब' (हरे नारियल) का उदाहरण दिया। 'डाब' में रस ही रस भरा होता है और उसका गूदा छिलके के साथ एकरूप होकर चिपका रहता है। पर जब यह रस सूख जाता है और 'डाब' सूखा नारियल बन जाता है, तो भीतर का गूदा अपने आप

छिलके से अलग हो जाता है और हिलाने पर भेले के रूप में गड़-गड़ आवाज करता है। इसी प्रकार, आज मनुष्य के भीतर वासना-रस लबालब भरा है। इसलिए आत्मारूपी गूदा तन या मन रूपी छिलके के साथ अभी एकरूप प्रतीत होता है। पर जब ज्ञान की अग्नि से इस वासना-रस को औंटाकर सुखा दिया जाता है, तो यह आत्मा शरीर और मन रूपी छिलके से अलग हो जाता है और अपनी प्रतीति करा देता है।

अर्जुन का वासना-रस सूखा नहीं था, इसलिए वह आत्मज्ञान की धारणा नहीं कर पाता। भगवान् कृष्ण यह भाँप लेते हैं और अर्जुन को एक सामान्य, लौकिक तर्क के द्वारा समझानें की चेष्टा करते हैं कि शोक करना वृथा है। अर्जुन वास्तव में मोह के महारोग का शिकार हुआ था। मोह की जीवन में दो प्रतिक्रियाओं होती हैं—भय और शोक। हम भी जब मोहग्रस्त होते हैं, तो भय और शोक की इन्हीं प्रतिक्रियाओं द्वारा आक्रान्त होते हैं। मोह जितना प्रवल होता है, भय और शोक की भी तदनुरूप तीव्रता होती है। अर्जुन प्रबल मोह का शिकार हुआ था। इसीलिए श्रीभगवान् तरह तरह के उपचार द्वारा उसे स्वस्थ करने का प्रयास करते हैं। सवसे पहला इंजेक्शन उन्होंने फटकार का लगाया—गाण्डीवधारी अर्जुन को क्लीव और नपुंसक कह दिया, प्रज्ञावादी कहकर उसकी भर्त्सना की। दूसरा इंजेक्शन आत्मज्ञान का दिया। परन्तु उसका भी अपेक्षित परिणाम

दृष्टिगोचर न हुआ। तव यह तीसरा इंजेक्शन लौकिक तर्क का लगाते हैं।

वाद-विवाद की प्रक्रिया में एक प्रकार का तर्क होता है, जिसमें वादी प्रतिवादी के तर्क को स्वीकार कर अपने तर्क से उसका खण्डन कर देता है। इसमें विशेष बुद्धि-कौशल का प्रयोजन होता है। इसे शास्त्रीय परम्परा में 'अभ्युपगमवाद' कहते हैं। 'अभ्युपगम' का अर्थ है स्वीकरण। वादी बिना किसी परीक्षण के प्रतिवादी की बात को स्वीकार कर लेता है और यह सिद्ध कर देता है कि तुम्हारी बात मान लेने पर भी तुम्हारा पक्ष नहीं ठहरता। अपने तर्कों के बल पर वह प्रतिवादी की बातों को, उसी की स्थिति को स्वीकार कर, काट देता है। भगवान् कृष्ण भी यही करते हैं। वे कहते हैं—अच्छा, यदि यही मानो कि आत्मा शरीर के ही समान नित्य जन्म लेनेवाला और नित्य मरनेवाला है, तो भी तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए। २६ वें श्लोक में आत्मा के लिए जो नित्य का विशेषण लगाया, उससे श्लोक के तीन अर्थ हो सकते हैं। एक तो यह कि शरीर जैसे नित्य जन्म लेता और नित्य मरता है, वैसे ही आत्मा भी शरीर के साथ नित्य जन्म लेता है और नित्य मरता है; दूसरा यह कि भले ही इस नित्य आत्मा को जन्म लेनेवाला और विनष्ट होनेवाला मान लिया जाय; और तीसरा, सांख्य की दृष्टि से आत्मा नित्य है, पर प्रकृतिरूप उपाधि के कारण उसका औपाधिक जन्म-मरण होता है;—इन

तीनों में से हम चाहे कोई भी अर्थ ग्रहण करें, पर किसी भी दशा में शोक करना उचित नहीं।

प्रश्न उठा कि शोक करना उचित क्यों नहीं? इसके उत्तर में आगे का २७ वाँ श्लोक कहता है—जो जन्म लेता है, उसकी मृत्यु निश्चित है और जो मरता है, उसका जन्म निश्चित है। इस क्रम को कोई टाल नहीं सकता। ऐसी अपरिहार्य बात के लिए फिर क्यों रोना? अँगरेजी में एक कहावत है—What cannot be cured should be endured—'जिसे सुधारा नहीं जा सकता, उसे सह लेना चाहिए'। जन्म से मृत्यु और मृत्यु से जन्म के अटल क्रम को हम नहीं सुधार सकते, अतः उसे सह लेना ही समझदारी का काम है। यही लौकिक तर्क है। संसार में मृत्यु जब अनिवार्य है, तब उसके लिए भला क्यों रोना? जिन परिजनों की मृत्यु की बात सोच हम आज रोते और विसूरते हैं, वे आज नहीं तो कल मृत्यु के कराल गाल में प्रविष्ट होंगे ही। 'अद्य किंवा शताब्दान्ते'—आज नहीं तो सौ साल बाद मृत्यु आएगी ही। उसके बढ़ते कदमों को कोई रोक नहीं सकता। बुद्धिमान को चाहिए कि इस अनिवार्यता का चिन्तन कर उसकी प्रतिक्रिया से अपने को बचाए।

मृत्यु जीवन का एक विलक्षण सत्य है। पर मनुष्य उसके प्रति आँखें बन्द किये रहता है, इसीलिए उसके भय से त्रस्त होता है। खरगोश जब शिकारी कुत्ते द्वारा पीछा किया जाने पर भागकर थक जाता है, तो धूल में

अपने सिर को टाँगों के बीच गड़ा लेता है और अपने को सुरक्षित समझता है। पर क्या वह सचमुच सुरक्षित है? क्या उसने भय को जीत लिया? शिकारी कुत्ता थोड़ी ही देर में पास आकर उसके मृत्यु-भय को तीव्र कर देता है। मृत्यु के भय को जीतने का उपाय यह नहीं कि हम उसके प्रति अपनी आँखें बन्द कर लें, बल्कि यह है कि हम उसे जानें और समझ-बूझकर उसका सामना करें। यदि हम आँखे बन्द कर लेंगे, तो मालूम नहीं हमें कितनी बार मरना पड़ेगा। जब-तब यह मृत्यु-भय का हौआ हमें डराता रहेगा। अतएव श्रेयस्कर यह है कि सत्य को आँखों से ओझल न होने दें।

महाभारत के यक्ष-प्रश्न प्रसंग में यक्ष ने युधिष्ठिर से पूछा—'किम् आश्चर्यम् ?'—'आश्चर्य क्या ?' यक्ष का तात्पर्य यह था कि संसार में सर्वाधिक आश्चर्य की बात क्या है? युधिष्ठिर उत्तर में कहते हैं—

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यममन्दिरम्।
शेषाः स्थिरत्वमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥

—'दिन-प्रतिदिन प्राणी यमालय को प्रयाण करते हैं, पर जो बचे हैं, वे कभी ऐसा नहीं सोचते कि उन्हें भी एक दिन यम के मन्दिर में जाना है। इससे बढ़कर अचरज की बात और क्या हो सकती है?'

और सचमुच, मृत्यु को भुलाने की चेष्टा ही हमारे भय की जड़ों को जल सींचा करती है। तभी तो भगवान् कृष्ण अर्जुन को इसके प्रति सचेत कर दे रहे हैं और इस

प्रकार उसे मृत्यु-भय को जीतने का मंत्र सिखा रहे हैं। मंत्र अत्यन्त सरल है, पर उसकी क्षमता तब प्रकट होती है, जब उसका अर्थबोध हमारी रग-रग में भिदता है।

मैंने कुछ समय हिमालय में बिताया—तपस्या में। कुछ महीने मैंने वसिष्ठ गुफा में काटे। यह स्थान ऋषीकेश से लगभग १४-१५ मील दूर, गंगाजी के किनारे है। जो पैदल रास्ता रुद्रप्रयाग को गया है, उसी पर। वैसे बस द्वारा भी वहाँ पहुँचा जा सकता है। तब एक सिद्ध महात्मा वहाँ वास करते थे। वन-पर्वतों में जाने का मेरा वह पहला ही अवसर था। स्वाभाविक ही मुझे भय लगता। जंगली जानवरों की आवाजें रात में सुनायी देती। चारों ओर घना जंगल है। एक रात मैंने दो रीछों को लड़ते भी देखा। भय मेरे भीतर इतना घुस गया कि साधना में विघ्न पड़ने लगा। एक दिन महात्माजी ने मुझे समीप बुलाया। वे मेरे भय को ताड़ गये थे। उन्होंने स्नेहपूर्वक मुझसे पूछा, "अच्छा, बेटे ! यह तो बताओ, तुम्हें इतना डर किस बात का लगता है ?" मैं कोई उत्तर न दे सका। तब उन्होंने स्वयं उत्तर दिया, "मृत्यु का ही न ? इसीलिए तो डरते हो न कि कोई जंगली जानवर कहीं तुम्हें खा न ले ?" बात ठीक ही थी। मैंने कहा, "हाँ महाराज ! डर तो मरने का ही लगता है।" वे इस पर बोले, "अच्छा देखो, थोड़ा इस ढंग से विचार करो, यदि तुम्हारे कपाल में हिंस्र पशु के हाथों मरना लिखा हो, तो जब तुम दिन में शौच के लिए

या नदी पर स्नान के लिए जाते हो, तभी कोई जंगली जानवर तुम पर हमला कर सकता है, और यदि तुम्हारे भाग्य में उसके हाथों मरना न लिखा हो, तो रात में चाहे तुम्हारे पास आकर तुम्हें सूँघ जाय, तुम्हें कोई हानि न पहुँचेगी। इस तर्क को मानते हो ?" बात तो अत्यन्त सरल थी। इसे मानने में भला क्या आपत्ति हो सकती थी ? यदि भाग्य में किसी के हाथों मरना लिखा हो तो उसे कोई मेट नहीं सकता, और यदि न मरना लिखा हो, तो हिंस्र पशुओं के बीच रहकर भी मनुष्य सुरक्षित निकल आयगा। इस सीधे से तर्क से भला कौन इन्कार कर सकता था ? मैंनें हामी भरी। इस पर उन्होंने कहा, "तुम कुछ दिन इसी मंत्र पर ध्यान करते रहो और उसे अपने भीतर भिदा लो। देखोगे, भय नाम की कोई चीज न रह जायगी।"

मैंने वैसा ही किया। अब मैं सतत इस मंत्र का चिन्तन और ध्यान करता रहता--"यदि मेरे कपाल में जंगली जानवरों के हाथों मरना लिखा हो, तो वे दिन में भी मुझे मार सकते हैं, और यदि उनके हाथों मरना न लिखा हो, तो रात में यदि जंगल में वे मुझे पा लें, फिर भी मेरा बाल बाँका न होगा। विधि का विधान मेटा नहीं जा सकता।"

और सचमुच इस सरल से दीखनेवाले मंत्र के जाप नें पन्द्रह दिनों में ही भय को जीवन से सदा के लिए निकाल दिया। बात साधारण सी थी, तर्क बिलकुल सरल

था, उसमें कोई अपूर्वता नहीं थी; पर वह एक ऐसे पुरुष के मुख से निकली थी, जिसका जीवन ही अनुभूतिमय था। इसलिए वह मेरे भीतर पैठ गयी। ठीक ऐसा ही एक मंत्र भगवान् श्रीकृष्ण देते हैं––मृत्यु-भय को जीतने के लिए, शोक को दूर करने के लिए। वे कहते हैं––'जो जन्म लेता है, उसका मरना भी निश्चित है और जो मरता है, उसका जन्म लेना भी निश्चित है। फिर ऐसी अवश्यम्भावी घटना पर शोक क्यों करना ?' मंत्र दिखता तो है सरल, पर यदि इसकी धारणा हमें हो जाय, तो मृत्यु-भय सदा के लिए दूर हो सकता है।

यहाँ पर एक बात खटकती है। यह तो ठीक है कि जो जन्म लेता है, उसकी मृत्यु निश्चित है, पर यह जो कहा कि––'ध्रुवं जन्म मृतस्य च'––जो मरता है, उसका जन्म निश्चित है, यह कैसे कह दिया ? जन्म लेनेवाले की मृत्यु तो दिखायी देती है, पर मरनेवाले का जन्म नहीं दिखता। फिर भगवान् ने ऐसी बात कैसे कह दी कि मरनेवाले का जन्म भी निश्चित है ? इससे तो दो प्रश्न खड़े होते हैं। एक तो यह कि यदि मरनेवाले का जन्म निश्चित हो, तो जो साधना के द्वारा मोक्ष या मुक्ति की अवस्था प्राप्त कर लेते हैं, क्या वे भी मरणोपरान्त पुनः जन्म लेंगे ? यदि कहो 'हाँ', तो मोक्ष की धारणा ही खण्डित हो जायगी और साधना का तात्पर्य भी खत्म हो जायगा। यदि कहो 'नहीं', तो भगवान् की बात खण्डित होगी। दूसरा प्रश्न यह है कि भीष्म आदि

गुरुजनों की सम्भावित मृत्यु से उत्पन्न होनेवाले शोक को जीतने के लिए इतना कहना ही तो पर्याप्त है कि जो जन्म लेता है, उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है। इस बात का तो वहाँ पर कोई तुक नहीं कि मरनेवाले का जन्म भी निश्चित है। इन दोनों प्रश्नों का समाधान भिन्न भिन्न टीकाकारों ने अलग अलग ढंग से किया है।

पहले प्रश्न के उत्तर में यह कहा जाता है कि यह प्रसंग उनके लिए है, जो संसार में लिप्त हैं, जो अज्ञान से उत्पन्न मोह की व्याधि से ग्रसित हैं। यह उनके लिए नहीं है, जो मुक्त हैं। मुक्त पुरुषों को अपवाद के रूप में ले लेना चाहिए। शेष जो बहुसंख्य लोग हैं, वे आवागमन के चक्र में फँसे हैं, अतः मृत्यु के बाद उनके जन्म लेने की वात में कोई बेतुकी नहीं है। जव तक व्यक्ति को ज्ञान नहीं होता, तब तक वह जन्म लेकर मरने और मरकर पुनः जन्म को प्राप्त होगा।

यदि कहो कि पुनर्जन्म की बात वहाँ लागू होती है, जहां आत्मा को नित्य और अविनाशी माना जाता है; और जब आत्मा को शरीर की भाँति नित्य जन्मने और मरनेंवाला मान लिया, तो पुनर्जन्म का सिद्धान्त कैसे लागू होगा, तो इसके उत्तर में कहा जाता है कि भले ही तुम आत्मा को अविनाशी न मानो, उसे शरीर के ही समान विनाशी और परिणामी मानो, पर यह शरीर जैसे संघटित होने पर जन्म लेता है, वैसे ही वह disintegrate (विघटित) होकर नाश को प्राप्त होता है। पर ये विघटित तत्त्व हरदम

इसी प्रकार विघटित नहीं बने रहते, बल्कि ये पुन: संघटित होते हैं। यही प्रकृति का क्रम है। यह शरीर पंचभूतों की एक विशेष अवस्था है। पंचभूतों से बने इस द्रव्य में सतत परिवर्तन घट रहा है। यह षड्विकारों से युक्त होता है। अन्तिम विकार है नाश। तो क्या वही final (अन्तिम) स्थिति है? नहीं! इस नाश में तत्त्वों का नये सिरे से पुन: संघटन होगा और द्रव्य एक नये रूप में प्रकट हो जायेगा। स्वर्ण का नेकलेस नष्ट हुआ, तो सोने की अँगूठी तैयार हो गयी। अँगूठी नष्ट हुई, तो सोने के कर्णफूल तैयार हो गये। रूप भले बदलते रहें, पर इन रूपों को जन्म देनेवाला जो कारणतत्त्व–सोना–है उसमें बदलाव नहीं आता। इसी प्रकार शरीर भले बदलते रहें, पर शरीर को जन्म देनेवाले जो कारण तत्त्व हैं, वे अक्षुण्ण बने रहते हैं।

हम एक बीज बोते हैं और उससे कालान्तर में एक वृक्ष निकलकर फैल जाता है। तो क्या बीज का विनाश नहीं हुआ? जब बीज अँकुरित होता है, तो उसे पहले सड़ना पड़ता है। इस सड़न और नाश की प्रक्रिया में से गुजरकर ही बीज वृक्ष बनता है। पर यह एक बीज नष्ट होकर असंख्य बीजों को जन्म भी देता है। बीज की चरितार्थता ही इस प्रक्रिया में है। यही जन्म, विनाश और फिर से जन्म की प्रक्रिया है। विकास का यह जो अवश्यम्भावी क्रम है, उसमें शोक को भला कहाँ स्थान है? छोटा सा बच्चा भले ही हमें अत्यन्त प्रिय लगे, पर क्या उसका हरदम बच्चा बना रहना हमें अच्छा लगेगा? यदि

दो वर्ष उसमें विकास न हो तो हम चिन्तित हो जाएँगे और चिकित्सकों को दिखाते फिरेंगे। बच्चों की तोतली बोली कितनी प्रिय लगती है, तो क्या इसलिए हम अपने बच्चे से अपेक्षा करेंगे कि वह हरदम तुतलाता रहे? यदि वह और कुछ महीने तुतलाता रहे, तो विशेषज्ञ को दिखाएँगे। यह प्रकृति का अपरिहार्य क्रम है। अतएव ऐसा जानकर हमें किसी की मृत्यु का शोक नहीं करना चाहिए। वह तो मृत्यु में से ही होकर विकास की सीढ़ियाँ तय करता हुआ आगे बढ़ेगा। यदि व्यक्ति ज्ञानी हो, साधना के फल से इसी जीवन में उसने ज्ञान–लाभ कर लिया हो, तो मृत्यु के बाद विदेहमुक्त हो जायगा और यदि अज्ञानी हो, तो मरकर फिर से नया शरीर प्राप्त करेगा एवं विकास के रास्ते पर बढ़ चलेगा। किसी भी दशा में मृत्यु शोक करने योग्य नहीं है।

यहाँ पर कोई यदि ऐसा कहे कि जब मृत्यु में से होकर ही विकास की सीढ़ियाँ तय करनी है, तो फिर किसी को मार डालना उस पर उपकार करना ही हुआ, क्योंकि वह फिर अधिक शीघ्रता के साथ विकास के रास्ते बढ़ चलेगा, तो इसका उत्तर यह है कि यह तर्क गलत है। हमें जान-बूझकर किसी को मारना नहीं है। फिर, दूसरी बात यह भी है कि मृत्यु किसी के लाने से नहीं आती, वह स्वयं होकर आती है। कोई आत्महत्या करना चाहे और मृत्यु यदि न बदी हो तो वह नहीं मरता। कोई किसी को मार डालना चाहे और मृत्यु बदी न हो, तो

वह सफल नहीं होता। मृत्यु तो विकास के अपने नियम तथा व्यक्ति के स्वयं के कर्मफल-भोग के सम्मिलन से घटती है। ऐसी दशा में सच्चाईपूर्वक कर्तव्य-पालन पर हमें बल देना चाहिए---किसी के मरने या मारने पर नहीं।

यह हुआ प्रथम प्रश्न का उत्तर। दूसरा प्रश्न जो किया जाता है कि 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः' इतना कहना ही तो पर्याप्त है, फिर 'ध्रुवं जन्म मृतस्य च' यह कहने की क्या आवश्यकता, तो इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि किसी की मृत्यु का शोक केवल यह कहने से नहीं चला जाता कि 'जो जन्म लेता है, वह एक दिन मरेगा ही'। ऐसा तो सभी कहते हैं। सभी जानते है कि एक दिन सबको मरना है। परन्तु मृत्यु के शोक को केवल इतना सा ज्ञान नष्ट नहीं कर पाता। जैसे, कोई तीर्थयात्रा के लिए जाते समय अपनी कीमती वस्तुएँ, धन-सम्पत्ति आदि धरोहर के रूप में किसी के पास रख जाय और वर्ष-दो वर्ष बाद आकर उन्हें वापस माँगे, तो देते समय व्यक्ति को कुछ न कुछ टीस तो होती ही है। वैसे ही, भले ही हमें यह ज्ञान है कि हमारे प्रिय आत्मीय-स्वजन भगवान् की अमानत हैं, पर जब भगवान् अपनी चीज वापस ले लेते हैं, तो दुःख तो होता ही है। इस दुःख को भी दूर करने के लिए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं---'ध्रुवं जन्म मृतस्य च'---'दुःख मत करो, अर्जुन ! जो मरेगा, उसका जन्म सुनिश्चित है। भले ही तुम न देख पाओ, पर यह ध्रुव सत्य है कि मृत्यु से व्यक्ति एकदम शून्य नहीं हो जाता,

बल्कि वह नया जन्म ग्रहण करता है ।'

महाभारत के युद्ध में जब अभिमन्यु मारा गया, तो अर्जुन अपने पुत्र के वध का समाचार सुन अत्यन्त व्याकुल हो उठा । किसी प्रकार उसका दुःख जाता नहीं था । नौबत यह आ गयी कि अर्जुन को युद्ध से पुनः उबकाई आने लगी । तब भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को अभिमन्यु का मरणोत्तर स्वरूप दिखलाया । वह चन्द्रलोक में अत्यधिक ऐश्वर्य और गरिमा से युक्त हो दिव्य सिंहासन पर विराजमान था । अर्जुन अपने पुत्र के उस रूप को देख चकित हो जाता है । जो अभिमन्यु अपने पिता के बिना रह न पाता था, आज वही लाड़ला, दुलारा बेटा अपने पिता को पहचान भी नहीं पा रहा है । वह अपने पिता के पास फिर से पृथ्वी पर नहीं जाना चाहता । वह पिता की ओर देखना भी नहीं चाहता । पृथ्वी में उसे जो वैभव अपने पिता के यहाँ मिला था, आज का उसका वैभव जानें कितना गुना अधिक है । और तब अर्जुन के नेत्र खुलते हैं और उसका शोक दूर होता है ।

आज महाभारत-युद्ध का प्रारम्भ है । अर्जुन गुरुजनों और आत्मीय-स्वजनों को देख विषादग्रस्त है । भगवान् कृष्ण उसे तरह तरह से समझाने का प्रयास कर रहे हैं । उसे 'महाबाहु' कहकर सम्बोधित करते हैं और उसकी वीरता, उसके शौर्य को इस सम्बोधन के द्वारा जगा देना चाहते हैं । पर अर्जुन का शोक-सागर किसी भी तरह शान्त नहीं होना चाहता । ऐसा लगता है कि अर्जुन जन्म-

मरण-पुनर्जन्म आदि को लेकर माथापच्ची नहीं करना चाहता। यह देख श्रीभगवान् कहते हैं—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ २८ ॥

(भारत) हे भरतवंशी [अर्जुन] (भूतानि) सचराचर सारे पदार्थ (अव्यक्तादीनि प्रारम्भ में अव्यक्त होते हैं (व्यक्त-मध्यानि) बीच में व्यक्त रहते हैं (अव्यक्तनिधनानि एव) अन्त: में पुन: अव्यक्त हो जाते हैं (तत्र) वहाँ (का) क्या (परिदेवना) दु:ख करना।

"हे भरतवंशी अर्जुन, विश्व के समस्त चर और अचर पदार्थ प्रारम्भ में अव्यक्त होते हैं, केवल बीच में व्यक्त दिखते हैं और अन्त में फिर से अव्यक्त हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में भला दु:ख करने की कौन सी बात है?"

वे अर्जुन को समझाते हैं कि यदि तू पुनर्जन्म की बात को नहीं मानना चाहता, तो लौकिक दृष्टि से ही देख ले। प्राणियों के ये जो दिखायी देनेवाले भूतात्मक शरीर हैं, वे जन्म से पूर्व अव्यक्त थे और निधन के अनन्तर पुन: अव्यक्त हो जायेंगे। केवल वे बीच में ही व्यक्त दिखायी देते हैं। पता नहीं, वे कहाँ से आते हैं और मृत्यु के पश्चात् कहाँ चले जाते हैं। इसमें शोक करने की क्या बात है? जब प्राणी के उद्भव-स्थान का ही पता नहीं, तो फिर शोक से आकुल क्यों होना?

यदि कहो कि उद्भव-स्थान का हमें पता है, वह माता के गर्भ से आता है, तो फिर से प्रश्न पूछा जा सकता है कि माता के गर्भ में कहाँ से आया? यदि कहो कि

पिता के शुक्र से, तो पुनः प्रश्न उठा कि पिता के शुक्र में कहाँ से आया ? यदि कहो कि खाये गये अन्न से, तो पूछा गया कि खाये गये अन्न में कहाँ से आया ? भौतिकवादी के पास इसका कोई उत्तर नहीं है। फिर, पिता अपना बीज जब माता के गर्भ में निक्षिप्त करता है, उस समय तो सन्तान अव्यक्त ही है। विकास के क्रम से उसे व्यक्तता मिलती है। अतएव भगवान् ने जो यह कहा कि सचराचर भूत अव्यक्त से प्रकट होते हैं, उसमें कोई दोष नहीं।

अव्यक्त का अर्थ यदि सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति लिया जाय, तो भी शोक अनुचित है। प्रकृति विकास के क्रम में अव्यक्त अवस्था से महत्-अहंकार-तन्मात्रा में परिवर्तित होते हुए भूतसर्ग को उपजाती है और व्यक्त बनती है और संकोच के क्रम में उल्टे जाकर प्रलय की अवस्था में पुनः अव्यक्त हो जाती है। यह प्रकृति का अपरिहार्य चक्र है। फिर शोक क्यों करना ? तभी तो पुत्रों की मृत्यु से विकल धृतराष्ट्र को समझाते हुए विदुर कहते हैं (महाभारत, स्त्रीपर्व, २/१३)--

अदर्शनादापतितः पुनश्चादर्शनं गतः ।
नासौ तव न तस्य त्वं वृथा का परिदेवना ॥

--'वे अदर्शन से, अज्ञात स्थान से आकर गिरे और फिर से अदर्शन में, अज्ञात स्थान में चले गये। न वे तुम्हारे थे, न तुम उनके हो। जब कोई वास्तविक सम्बन्ध ही नहीं, तो फिर क्यों वृथा शोक करना ?'

अज्ञात स्थान से अकस्मात् प्रादुर्भूत देह में अपनेपन

की कल्पना कर हम दुःख पाते हैं। यह ममत्व ही सारे दुःख की जड़ है। अचानक खबर आयी कि एक दुर्घटना में किसी माता का बेटा मारा गया। माता पछाड़ खाकर बेहोश हो जाती है। होश आने पर विलख-बिलखकर रोती है। पास-पड़ोस की स्त्रियाँ तरह तरह से समझाती हैं—'भगवान् ने दिया था, ले लिया', 'एक न एक दिन सबको जाना ही पड़ता है, बहिन, धीरज धरो,' आदि आदि। इतने में समाचार आया कि जिस लड़के की मृत्यु हुई, वह इसका बेटा नहीं, बल्कि समझानेवाली स्त्रियों में से एक का बेटा है।। बस, क्या था! सब कुछ बदल गया। जो बिलख रही थी, वह स्वस्थ हो गयी और जो समझा रही थी, स्वस्थ थी, वह शोक से मूर्छित हो गयी! यह ममता ही दुःख को 'ऑन' और 'ऑफ' करने का बटन है। इसी ममत्व-बुद्धि के बटन को 'ऑफ' करने के लिए भगवान् श्रीकृष्ण का यह उपदेश है, और यह उपदेश ही मृत्यु-भय को जीतने का मंत्र है।

•

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद्चन्द्र पेंढारकर, एम. ए.

(१) धर्मनिरपेक्षिता

पंजाब-केसरी रणजीतसिंह के पास एक मुसलमान लिपिकार आया। उसने वर्षों के परिश्रम से सुन्दर अक्षरों में कुरान-शरीफ' की एक प्रतिलिपि तैयार की थी। वह पुस्तक लिपिकला का अत्यन्त उत्कृष्ट नमूना थी। सुडौल और सुन्दर अक्षरों के कारण रणजीतसिंह उससे बेहद प्रभावित हुए। लिपिकार ने अनेक धनिक व्यक्तियों और नवाबों को उसे दिखाया था, किन्तु सबने केवल प्रशंसा ही की थी, मगर रणजीतसिंह ने प्रशंसा के साथ साथ उसकी मुँहमाँगी कीमत देकर उसे अपने निजी संग्रहालय के लिए खरीद भी लिया। यह देख महाराज के मुसलमान वजीर अजीजुद्दीन को बड़ा आश्चर्य हुआ। वह उनसे बोला, "महाराज, आप तो सिख हैं, आपने मुसलमानों की इस पुस्तक का आदर कैसे किया ?"

महाराज ने हँसते हुए जवाब दिया," मैं सभी धर्मों को एक ही आँख से देखता हूँ। कहीं एक धर्म को एक आँख से और दूसरे को दूसरी आँख से न देखने लगूँ, इस कारण ईश्वर ने मेरे पास एक ही आँख रहने दी है।"

(२) स्वामिभक्ति

अब्दाली और मरहठों में पानीपत के मैदान में घन-घोर युद्ध हुआ। मरहठों की तोपों का प्रमुख इब्राहीम गारदी था। उसने अपने शौर्य और युद्ध-कौशल से सैनिकों के दाँत ही खट्टे नहीं किये, बल्कि सैकड़ों मुसलमानों को

मौत के घाट उतार दिया। अब्दाली ने मन ही मन इब्राहीम खान् का लोहा मान लिया। उसने निश्चय किया कि किसी भी हालत में इस साहसी सैनिक को वश में करना ही चाहिए। इस इरादे से उसने इब्राहीम खान् को पत्र भेजा—"दोस्त, बड़े ताज्जुब की बात है कि मुसलमान होकर भी तू एक काफिर की सेवा में है। मेरे पास आ, जिससे तेरी तोपें और मेरे सैनिक, ये मिलकर सारे एशिया में चंगेजखान की तरह तहलका मचाएँ।"

किन्तु इब्राहीम स्वामीभक्त सैनिक था। वह अब्दाली ने बहकावे में नहीं आया, उलटे उसने अब्दाली को निम्न प्रकार से जवाब दिया—"मैंने कसम खायी है कि भाऊ साहब की सेवा में अपनी जान की बाजी लगा दूँगा। इस कसम को तोड़कर मैं उनको कतई धोखा नहीं दे सकता। मेरी समझ में नहीं आता कि तुमने इसका सम्बन्ध मजहब से कैसे जोड़ लिया? भाऊसाहब अपने मजहब के लिए तो नहीं लड़ रहे हैं, फिर तुमने इस प्रकार का गलत अन्दाज कैसे लगा लिया? मेरी समझ में तो इसका कारण यह हो सकता है कि तुममें ही उस प्रकार की खराबी है, तभी तो मेरे दिल में हिन्दू धर्म के प्रति घृणा उत्पन्न कर मुझे अपनी तरफ खींचना चाहते हो। मगर मैं जहाँ हूँ, वहीं खुश हूँ। मैं गद्दारी नहीं करूँगा।"

और इस वीर नें मरहठों की ओर से लड़कर ही वीरगति प्राप्त की।

(३) अनोखी माँग

दरियाखाँ नामक एक मुसलमान अमीर ने जब बादशाह जहाँगीर की आज्ञा के विरुद्ध मेवाड़राज्य के नगरों में भयंकर अत्याचार करना आरम्भ किया, तो बूँदी-नरेश राजा राव रतन ने उसका मुकाबला कर उसे कैद कर लिया और जहाँगीर के पास ले आया। दरियाखाँ अपनी बहादुरी के लिए काफी प्रसिद्ध था परन्तु जहाँगीर उससे असन्तुष्ट था। उसे गिरफ्तार देख वह बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने राव रतन को उसकी इस शूरता के लिए कोई चीज माँगने कहा। राव रतन को यह बात बड़ी खटकती थी कि उसे विधर्मी के झण्डे को साथ में रखना पड़ता है। वह बोला, "मैं जब भी अपनी सेना के साथ बाहर रहूँ, केसरिया ध्वज रखने की मुझे अनुमति प्राप्त हो।" जहाँगीर ने यह तुरन्त स्वीकार कर लिया। सम्मान, स्वाभिमान, पराक्रम और त्याग का प्रतीक रघुकुलपूजित केसरिया ध्वज छोड़कर एक क्षत्रिय के लिए प्राण से भी प्यारा संसार में और है ही क्या ?

(४) दानवीरता

धर्मान्ध और पितृद्रोही औरंगजेब जब अपने पिता शाहजहाँ को कैद में डालकर बादशाह बन बैठा, तो उसने अपना मार्ग निष्कंटक करने के लिए अपने सगे भाइयों—शुजा और मुराद—को मौत के घाट उतार दिया। फिर सल्तनत के उत्तराधिकारी बड़े भाई दारा को गिरफ्तार कर, एक बूढ़ी हथिनी की पीठ पर उसे बिठा दिल्ली के

मुख्य-मुख्य बाजारों से घुमाया। दोपहर की कड़ी धूप, हथिनी की नंगी पीठ और कैदी का वेश! दारा को सहस्त्र विच्छुओं के डंक से भी अधिक पीड़ा हो रही थी। उसे देखने के लिए भारी जनसमूह सड़कों पर एकत्रित हो गया था। दारा नीची नजर किये बैठा था कि इतने में आवाज आयी—"दारा! जब भी तू निकलता था, खैरात करता हुआ निकलता था। मगर क्या आज मैं उस सखावत की उम्मीद न करूँ?"

दारा ने नेत्र उठाये और उस ओर देखा। लंगोटी पहने एक फकीर खड़ा था। उसने झट से अपने कन्धे पर पड़ा दुपट्टा उसकी तरफ फेंक दिया और फिर सिर नीचा कर लिया। फकीर 'दारा जिन्दाबाद' के नारे लगाता नाचने लगा और प्रजा उसके साधुवाद पर आँसू बहाने लगी।

●

अमेरिका में स्वामी विवेकानन्द

ब्रह्मचारी देवेन्द्र

(गतांक से आगे)

पूर्वी अंचलों की यात्रा

डिट्रायट के अवस्थान-काल में ही स्वामीजी का पूर्वी अंचलों में दौरे का कार्यक्रम निश्चित हो चुका था। लेक्चर-ब्यूरो से मुक्ति प्राप्त कर वे स्वतंत्र रूप से विचरण करनें हेतु उत्सुक थे। हेल बहनों को उन्होंनें १५ मार्च, १८९४ के पत्र में लिखा,"तुम्हारी माँ ने मुझे लीन की एक महिला को पत्र लिखने के लिए कहा है। मैंने उन्हें कभी देखा नहीं है। बिना किसी परिचय के किसी को लिखना क्या शिष्टाचार है ? लीन है कहाँ ? इस महिला से मेरा जरा और परिचय कराओ।"... यह निश्चित है कि हेल बहनों से समाधान पा स्वामीजी ने लीन की श्रीमती फ्रांसिस डब्ल्यू ब्रीड को पत्र लिखा होगा। ३० मार्च के पत्र में वे मेरी हेल को लिखते हैं, "पहले तो श्रीमती ब्रीड ने मुझे जबरदस्त कड़ा पत्र भेजा, पर आज मुझे उनका तार मिला है, जिसमें उन्होंने मुझे एक हफ्ते के लिए अतिथि के रूप में आमंत्रित किया है। इसके पूर्व मुझे एक पत्र न्यूयार्क से श्रीमती स्मिथ का प्राप्त हुआ है, जहाँ उन्होंने अपनी ओर से तथा कुमारी हेलेन गाइल्ड और एक अन्य डाक्टर ... की ओर से मुझे न्यूयार्क आने का आमंत्रण दिया है। चूँकि लीन क्लब मुझे अगले महीने की १७ तारीख को चाहता है, इसलिए मैं पहले न्यूयार्क जा रहा हूँ और फिर वहाँ से उनकी सभा के लिए समय

पर लौट आ जाऊँगा।" ...

समाचार-पत्रों से यह भी पता चलता है कि न्यूयार्क के पहले स्वामीजी के कार्यक्रम नार्दैम्पटन और बोस्टन में आयोजित हुए थे। किस प्रकार ये कार्यक्रम निश्चित हुए, इसकी जानकारी अप्राप्य है। 'नार्दैम्पटन डेली हेराल्ड' के ६ अप्रैल के अंक में यह सूचना प्रकाशित हुई--

"शनिवार, १४ अप्रैल को नार्दैम्पटन के निवासियों को महान् प्रतिभाशाली विद्वान् हिन्दू संन्यासी स्वामी विवे कानन्द का भाषण सुनने का सुअवसर प्राप्त होगा। धर्म की दृष्टि से भले ही थोड़े लोग उनसे सहमत हों, पर ऐसा कोई न होगा, जो उन्हें उत्सुकतावश अथवा अन्य कारणों से सुनना न चाहे।"

पाँच अप्रैल के 'बोस्टन ईवनिंग ट्रान्सक्रिप्ट' में यह समाचार छपा--

"नारंगी पगड़ी की भव्यता से सुशोभित, बौद्धिक और नैतिक सभी प्रकार के विषयों में अपने प्रगतिशील विचारों के लिए विख्यात् स्वामी विवे कानन्द बोस्टन पधार रहे हैं। शिकागो की धर्मसभा के बारे में जिनकी तनिक भी रुचि रही है, वे भाई विवे कानन्द जैसा कि वे सम्बोधित होना पसन्द करते हैं, के बारे में जानते हैं। वे स्वतः ही स्वतंत्र रूप से धर्म-प्रचार का व्रत ले यह देखने के लिए अमेरिका आये हैं कि वे इस भौतिकतावादी डालर-पूजक देश में धर्म विश्वास की पुनः स्थापना के लिए क्या कर सकते हैं। वे सचमुच में एक महान् व्यक्ति हैं, सज्जन हैं,

सरल और विश्वसनीय हैं तथा विद्वत्ता में इतने आगे हैं कि हमारे यहाँ के अधिकांश विद्वानों की उनसे कोई तुलना ही नहीं की जा सकती। कहा जाता है कि हार्वर्ड विश्वविद्यालय के एक प्राध्यापक (प्रोफेसर जॉन हेनरी राइट) ने धर्म-महासभा के आयोजकों को इन्हें आमंत्रित करने के लिए पत्र में लिखा, 'हम सबों को मिलाकर तुलना करने पर भी वे अधिक विद्वान् हैं। वे यहाँ के दर्जन भर ख्यातनामा व्यक्तियों के नाम शिकागो के लब्धप्रतिष्ठ चिन्तकों, कर्मियों तथा आभिजात्य व्यक्तियों के पत्र लेकर आ रहे हैं। शिकागो में इन सब चीजों का भी एक फैशन है।"

अप्रैल के पहले हफ्ते में बोस्टन में स्वामीजी के व्याख्यान हुए या नहीं, यह निश्चयपूर्वक नहीं का जा सकता। पर उतना निश्चित है कि पूर्वी अंचलों में जाने से पूर्व उन्होंने परिचय-पत्र प्राप्त करने हेतु अपने शिकागो के प्रमुख अड्डे, श्री हेल के यहाँ कुछ दिन अवश्य बिताया होगा। 'नार्दैम्पटन डेली हेराल्ड' के १३ अप्रैल के अंक में यह समाचार प्रकाशित हुआ, "बोस्टन की एक गण्यमान्य तथा सामाजिक क्षेत्र में सुविख्यात महिला ने स्वामी विवेकानन्द के सम्मान में एक बैठक का आयोजन किया। उन्होंनें अपने अतिथियों से कह रखा था कि वे हिन्दू संन्यासी के समक्ष अपने जटिल से जटिल प्रश्न उपस्थित करें, चाहे वे दर्शन के क्षेत्र के हों, चाहे विज्ञान के अथवा धर्म के। लोग आये, उन्होंनें पूछा, उन्हें उत्तर प्राप्त हुआ और वे यह कहते हुए वापस लौटे कि 'उनके द्वारा वर्णित

सत्य की हमें आधी जानकारी भी नहीं थी' ।"

१४ अप्रैल को स्वामीजी ने नार्दैम्पटन शहर में एक सार्वजनिक सभा में तथा दूसरे दिन स्मिथ कालेज में भाषण दिया। सार्वजनिक सभा में उन्होंने दर्शाया कि भाषा, वर्ण और रीति-रिवाजों में भिन्नता होने के बावजूद विश्व की सारी मुख्य जातियाँ मूलतः एक हैं। हिन्दू रीति-रिवाजों की पाश्चात्य रीति-रिवाजों से तुलना करते हुए उन्होंने उनकी श्रेष्ठता प्रतिपादित की। उन्होंने अंग्रेज जाति के बर्बर शासन तथा विलासिता पर कटाक्ष करते हुए कहा कि विदेशी जातियों की यह भोगपरायणता और धन-लोलुपता ही उन्हें ले डूबेगी। 'नार्दैम्पटन डेली हेराल्ड' ने स्वामीजी के भाषण का सारांश छापा, पर साथ ही वह उनके द्वारा किये इस कटाक्ष की आलोचना करने में भी पीछे न रहा। तथापि अन्त में उसने लिखा, "स्वामी विवेकानन्द को देख और सुन पाना एक ऐसा सुअवसर है, जिसे खोना किसी भी बुद्धिमान और विचारशील अमरीकी के लिए उचित नहीं; विशेषकर जब वे एक ऐसी जाति की मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक संस्कृति की अति श्रेष्ठ ज्योतिर्मय कृति के प्रकाशपुंज को देखना चाहते हैं, जिसकी आयु की गणना हजारों वर्षों में होती है, जबकि हमारी सैकड़ों में, और जिसका अध्ययन प्रत्येक मन के लिए महत्त्वपूर्ण है।"

दूसरे दिन १५ अप्रैल को अपरान्ह में स्वामीजी ने स्मिथ कालेज में भाषण दिया। उसमें उन्होंने ईश्वर के

पितृत्व और मनुष्य के भ्रातृत्व की विवेचना की। उसका सारांश 'स्मिथ कालेज मन्थली' के मई १८९४ अंक में इस प्रकार प्रकाशित हुआ—"हम मानव के भ्रातृत्व और ईश्वर के पितृत्व की अनेक बातें करते हैं, पर बहुत कम लोग ही इसका अर्थ समझ पाते हैं। वास्तव में भ्रातृत्व तभी सम्भव है, जब जीवात्मा जगत्पिता के इतने नजदीक पहुँच जाय कि ईर्ष्या तथा क्षुद्र श्रेष्ठत्व के सब प्रकार के दावे नष्ट हो जायँ। हमें सावधानी बरतनी है, ताकि हम प्राचीन हिन्दू कथा के कूपमण्डूक न हो जायँ, जो छोटी जगह में बहुत समय तक रहने के कारण बड़े स्थान का अस्तित्व ही नहीं स्वीकारता था।"

नार्दैम्पटन से स्वामीजी मैसाच्यूसेट्स के अन्तर्गत लीन शहर में आये। वहाँ वे श्रीमती ब्रीड के अतिथि बने। लीन चमड़े के व्यवसाय के लिए विख्यात था। श्री ब्रीड का स्वयं का चमड़े का कारखाना था। वे बड़े धनाढ्य व्यक्ति थे। श्रीमती ब्रीड लीन की सामाजिक कार्य-कर्मियों में अग्रणी थी। मोहक और प्रभावी व्यक्तित्व की उत्तराधिकारिणी यह महिला अपने वैभव-प्रदर्शन में भी वढ़ी चढ़ी थी। कहा जाता है कि उनके पास एक रशियन स्लेज थी, जिसे तीन घोड़ों द्वारा खींचा जाता था। शीत-काल में जब श्रीमती ब्रीड अपनी पूरी भव्यता के साथ स्लेज गाड़ी में सवार हो निकलतीं, तो लोगों पर उनका रोब छा जाता। यदि स्वामीजी ठंड के दिनों में वहाँ पहुँचे होते, तो उन्होंने अवश्य स्लेज का आनन्द उठाया

होता। फिर भी श्रीमती ब्रीड ने स्वामीजी के सत्कार में कोई कमी नहीं रखी।

स्वामीजी ने लीन में दो व्याख्यान दिये। पहला व्याख्यान १७ अप्रैल को 'नार्थ शोर क्लब' में हुआ, जिसका विषय था 'भारत के रीति-रिवाज' और दूसरा 'आक्सफोर्ड हाल' में १८ अप्रैल को हुआ।

श्रीमती ब्रीड का एक मकान बोस्टन में भी था। स्वामीजी वहाँ भी कुछ दिन रहे। वहाँ उन्होंनें अपने अन्यतम मित्र प्राध्यापक राइट से मुलाकात की। कुछ नये मित्र भी बने। इस समय की घटनाओं पर कुछ कुछ प्रकाश स्वामीजी द्वारा कुमारी ईसाबेल मैककिंडली को न्यूयार्क से २६ अप्रैल को लिखे गये पत्र से मिलता है——

...बोस्टन में श्रीमती ब्रीड के यहाँ समय बहुत अच्छा बीता और प्रोफेसर राइट से भी मुलाकात हुई। मैं बोस्टन फिर जा रहा हूँ। दर्जी मेरा नया चोगा बना रहा है——कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी (हार्वर्ड) में मेरा व्याख्यान होगा और मैं वहाँ प्राध्यापक राइट का मेहमान रहूँगा। बोस्टन के पत्रों में मेरे स्वागत में वे लोग खूब लिख रहे हैं।

मैं इन वाहियात कामों से थक गया हूँ। मई के उत्तरार्ध में मैं शिकागो आऊँगा और कुछ दिन ठहरने के बाद पुनः पूर्व चला जाऊँगा।

मैंने पिछली रात को वाल्डोर्फ होटल में व्याख्यान दिया था। श्रीमती स्मिथ नें प्रति टिकट दो डालर के हिसाब से बेचा। यद्यपि हाल पूरा भरा हुआ था, लेकिन था छोटा। अभी तक वह रकम मुझे नहीं मिली हे। आशा है दो-एक दिन में मिल जायगी।

लीन में मुझे सौ डालर प्राप्त हुए। वह मैं नहीं भेज रहा हूँ, क्योंकि मुझे नया चोगा और कुछ ऊटपटांग चीजें लेनी हैं।

बोस्टन में मुझे रुपये बनने की आशा नहीं। फिर भी मुझे अमेरिका के मस्तिष्क को स्पर्श करने और यदि सम्भव हो तो उसे उद्वेलित करने का प्रयत्न तो करना ही चाहिए।

२४ अप्रैल की शाम को स्वामीजी ने वाल्डोर्फ होटल में श्रीमती स्मिथ के गोष्ठी-चक्र में 'भारत और हिन्दूधर्म' विषय पर भाषण दिया तथा उसमें पुनर्जन्मवाद की विद्वत्तापूर्ण व्याख्या प्रस्तुत की। २४ अप्रैल से ६ मई तक वे न्यूयार्क में रहे। इस बीच उन्होंने कितनी ही वक्तृताएँ दी होंगी तथा घरेलू बैठकों में भाग लिया होगा। पर आज उन सबका विवरण प्राप्त नहीं है। कुमारी ईसाबेल मैकंकिडली को २ मई (वास्तव में १ मई) को लिखे पत्र में उनकी गतिविधियों की कुछ झलक मिलती है तथा उनकी मानसिक अवस्था के बारे में भी कुछ जानकारी प्राप्त होती है। वे लिखते हैं--

मुझे यहाँ अपने गाउन के लिए अभीष्ट नारंगी रंग के कपड़े नहीं मिल सके, अतः उससे जो अधिक मिलता-जुलता मिल सका, उसी से सन्तोष करना पड़ा--गहरे लाल रंग का तथा चटक पीले की चमक वाला।

कुछ दिनों में कोट तैयार हो जायगा।

अभी उस दिन वाल्डोर्फ व्याख्यान से मुझे ७० डालर प्राप्त हुए। कल के व्याख्यान से आशा है, कुछ अधिक ही प्राप्त होंगे।

७ से १९ मई तक बोस्टन में कार्यक्रम है, पर वे लोग बहुत कम देंगे।

कल मैंने १३ डालर में एक पाइप खरीदी है—'फादर पोप' से इसका जिक्र न करना। कोट में ३० डालर लगेंगे। मुझे खाना ठीक मिल रहा है और पर्याप्त रुपये भी। आगामी लेक्चर के बाद बैंक में कुछ जमा करवा सकूँगा। ...

हाँ, मैं निरामिष हूँ ..., क्योंकि जब वैसा खाना मिलता है, तो मैं उसे अधिक पसन्द करता हूँ। ... समय बहुत अच्छा बीत रहा है, बोस्टन में भी अच्छा, बहुत अच्छा बीतेगा—सिर्फ उस गर्हित लेक्चरबाजी को छोड़कर! जैसे ही १९ वीं तारीख बीतेगी कि बोस्टन से शिकागो एक छलाँग, और फिर आराम और विश्राम की लम्बी साँस, दो तीन हफ्ते तक विश्राम। बस, बैठा रहूँगा और बातें करूँगा, बातें और धूम्रपान।

हाँ, तुम्हारे न्यूयार्क के लोग बड़े भले हैं; बस, बुद्धि की अपेक्षा धन अधिक है।

मैं हार्वर्ड विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के बीच व्याख्यान देने जा रहा हूँ। श्रीमती ब्रीड ने बोस्टन और हार्वर्ड में तीन तीन व्याख्यान आयोजित किये हैं। कुछ का आयोजन लोग यहाँ भी कर रहे हैं, जिससे शिकागो जाते समय मैं न्यूयार्क एक बार फिर आऊँगा तथा लोगों को कुछ जोरदार धौल जमा, जेब भरकर शिकागो छू हो जाऊँगा।

न्यूयार्क या बोस्टन से यदि कुछ ऐसा मँगाना हो, जो शिकागो में न मिलता हो, तो जल्दी ही लिख भेजना। मेरे पास अब ढेर से डालर हैं। तुम जो चाहोगी, तत्काल भेज दूँगा। यह न सोचना कि इसमें कुछ अशोभन होगा। मेरे सम्बन्ध में कोई पाखण्ड नहीं। यदि मैं भाई हूँ, तो भाई हूँ—दुनिया में मैं अगर किसी बात से नफरत करता हूँ, तो पाखण्ड से।

न्यूयार्क में स्वामीजी का दूसरा व्याख्यान २ मई को श्रीमती मेरी फिलिप्स के घर आयोजित हुआ। श्रीमती

फिलिप्स वाल्डोर्फ के भाषण में भी उपस्थित थीं तथा बाद में ये स्वामीजी की अनन्य मित्र और भक्त बन गयीं। इनका निवासस्थान स्वामीजी का न्यूयार्क का मुख्यालय बन गया था, जिस पते पर उनकी भारत से चिट्ठियाँ आया करती थीं। श्रीमती फिलिप्स का नाम न्यूयार्क की अनेक जनकल्याणकारी संस्थाओं से जुड़ा था और उन्हें इन कार्यों में सुख्याति भी प्राप्त थी। २ मई के भाषण का विषय था—'पुनर्जन्मवाद'। न्यूयार्क में प्रदत्त इन दो भाषणों ने स्वामीजी को कई उत्साही मित्र प्रदान किये। इनमें प्रमुख थे डाक्टर गुर्नसी और उनकी पत्नी, जिनके यहाँ स्वामीजी ने बाद में अनेक दिन निवास किया था; लेखक और संवाददाता लियोन लैंड्सवर्ग, जो बाद में स्वामीजी से दीक्षा और संन्यास ग्रहण कर स्वामी कृपानन्द बने; सुप्रसिद्ध गायिका एम्मा थर्सबी तथा विख्यात पादरी एवं 'आउटलुक' नामक सुप्रसिद्ध पत्रिका के सम्पादक लाइमेन एबॉट। इन सबने न्यूयार्क की 'वेदान्त सोसायटी' के कार्यों में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया था।

(क्रमशः)

प्रेम—केवल प्रेम का ही मैं प्रचार करता हूँ, और मेरे उपदेश वेदान्त की समता और आत्मा की विश्व-व्यापकता—इन्हीं सत्यों पर प्रतिष्ठित हैं।

—स्वामी विवेकानन्द

आचार्य रामानुज–जीवन और दर्शन

ब्रह्मचारी सन्तोष

अवतारों तथा महान् आचार्यों के आविर्भाव का रहस्य समझाते हुए श्रीरामकृष्ण देव ने एक बार भक्तों से कहा था, "वादशाही अमल का सिक्का अँगरेजी राज में नहीं चलता।" इसका तात्पर्य यह है कि सिक्के में सोना या चाँदी जो धातु है, उस 'धातु' के रूप में तो उसका मूल्य और उपयोग सदैव है ही, किन्तु जनसाधारण में उसका चलन सिक्के के रूप में तभी हो सकता है, जब उस धातु को गलाकर उस पर समकालीन शासन की मुहर लगादी जाय। यह मुहर ही उस धातु को चालू सिक्का बनाती है और तभी जनसाधारण उसका उपयोग कर लाभ उठा पाता है।

इसी प्रकार श्रुतियों तथा अन्यान्य धार्मिक ग्रन्थों में गहन-गम्भीर आध्यात्मिक तत्त्व निहित हैं, वे शाश्वत और अक्षुण्ण तो हैं, पर उन तत्त्वों को युग-प्रयोजन के अनुसार जनसुलभ और व्यावहारिक बनाने की आवश्यकता होती है, जिससे एक साधारण व्यक्ति भी उसे अपने जीवन में उतार सके। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए भारत की पुण्यभूमि में अवतारों तथा महान् आचार्यों का आविर्भाव होता रहा है।

विकृत कर्मकाण्ड तथा जैनों और बौद्धों के नास्तिक-वाद एवं शून्यवाद के मेघों को छिन्न-भिन्न कर अद्वैत सिद्धान्त का सूर्य भगवान् शंकराचार्य के रूप में ईसा की आठवीं शताब्दी में उदित हुआ। उस ज्ञान-सूर्य की प्रखर

रश्मि से भारत का आध्यात्मिक क्षितिज लगभग दो शताब्दियों तक आलोकित रहा। किन्तु कालक्रम से अद्वैत ज्ञान के उस प्रखर तेज को धारण कर उससे अपने जीवन को दैदीप्यमान एवं तेजस्वी बनाने वाले साधकों की संख्या कम होती गई। अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है, तथा जीव ही ब्रह्म है। यह जगत् मिथ्या प्रपंच है। इस मार्ग की साधना में प्रारम्भ से ही संसार का निषेध करना होता है। यह कठिन पथ है। बिरले व्यक्ति ही इस पथ के योग्य अधिकारी होते हैं। जन-साधारण के लिए तो यह अत्यन्त दुरूह है। यही कारण था कि अद्वैत सिद्धान्त और उसकी साधना-प्रणाली कुछ विशिष्ट अधिकारी साधकों तक ही सीमित रह गयी। जनसामान्य उससे विशेष लाभ न उठा सका। तब एक ऐसे आध्यात्मिक सिद्धान्त और साधनापद्धति की आवश्यकता थी, जो शास्त्र-सम्मत, सक्षम तथा सर्वजनसुलभ हो और जिसका आश्रय लेकर एक सामान्य व्यक्ति भी मोक्ष का अधिकारी हो सके। युग के इसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए यतिराज आचार्य रामानुज का इस धराधाम में आविर्भाव हुआ था।

आज से लगभग एक सहस्र वर्ष पूर्व मद्रास से २७-२८ मील दूर श्री पेरमबुदूर नामक गाँव में कई नैष्ठिक ब्राह्मण-परिवार रहा करते थे। इनमें एक अत्यन्त निष्ठावान, विद्वान् और यज्ञपरायण ब्राह्मण थे केशवाचार्य। वे सभी प्रकार के यज्ञों में निष्णात थे तथा सदैव यज्ञों के

अनुष्ठान में तत्पर रहा करते थे। इसीलिए उस अंचल के विद्वानों ने उन्हें सर्वक्रतु* की उपाधि से विभूषित किया था।

उस समय श्रीरंगम क्षेत्र में शैलपूर्ण नामक एक विद्वान् संन्यासी रहा करते थे। वे प्रसिद्ध सन्त यमुनाचार्य के शिष्य थे। उनके दो बहनें थीं। बड़ी का नाम था कान्तिमती और छोटी का द्युतिमती। कान्तिमती का विवाह सर्वक्रतु केशवाचार्य से हुआ तथा द्युतिमती कमलनयन भट्ट नामक एक ब्राह्मण को ब्याही गयीं।

विवाह के पश्चात् सर्वक्रतु दम्पति पेरमबुदुर में आनन्दपूर्वक रहने लगे। समय-चक्र चलता रहा। कई वर्ष बीत गये, पर कान्तिमती को सन्तान का मुँह देखने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। केशवाचार्य और कान्तिमती दुखित और चिन्तित रहने लगे। केशवाचार्य यज्ञों में निष्णात तो थे ही। उन्होंने निश्चय किया कि वे यज्ञ द्वारा भगवान् पार्थसारथि को प्रसन्न कर उनसे पुत्र-प्राप्ति का वरदान माँगेंगे। ऐसा निश्चय कर वे अपनी पत्नी के साथ मद्रास नगर के निकट तिरूअल्लिकेनी* सरोवर के तट पर आये। यहाँ रहकर उन्होंने एक यज्ञ का अनुष्ठान

---

*क्रतु=यज्ञ——सभी प्रकार का यज्ञ करने वाला।

*तिरु=श्री। अल्लि=जलकुमुदनी। केनी=झील। मद्रास का जो भाग आजकल ट्रिप्लिकेन कहा जाता है, वह तिरु अल्लिकेनी का ही अँगरेजी अपभ्रंश है। Life of Ramanuja by Swami Ramkrishnananda, Page 72, first edition, 1959.

किया। यज्ञ समाप्त होने पर एक रात्रि स्वप्न में उन्होंने देखा कि भगवान् पार्थसारथी आये हुए हैं और केशव से कह रहे हैं, "सर्वंक्रतु! मैं तुम्हारी भक्ति से प्रसन्न हूँ। तुम चिन्तित न होओ। दुष्ट प्रवृत्तियों से प्रेरित हो लोग शास्त्रों के मतों को ठीक ठीक नहीं समझ पा रहे हैं। विपरीत बुद्धि के कारण वे स्वयं को ही ईश्वर मान अभिमानी और दुराचारी होते जा रहे हैं। इसलिए आचार्य के रूप में अवतरित हो मुझे उनका उद्धार करना होगा। मैं तुमसे प्रसन्न हूँ, अतः तुम्हारे घर मैं पुत्र-रूप में जन्म ग्रहण करूँगा। तुम घर लौट जाओ।"

केशवाचार्य ने अपनी पत्नी से स्वप्न की बात बतायी और वे दोनों घर लौट आये। लगभग एक वर्ष पश्चात् सन् १०१७ ई० में माता कान्तिमती के गर्भ से एक पुत्र-रत्न का जन्म हुआ। लगभग उसी समय कान्तिमती की छोटी बहिन द्युतिमति ने भी एक पुत्र को जन्म दिया।

कुछ दिनों पश्चात् द्युतिमती अपनें पुत्र को ले अपनी बड़ी बहन के घर आयीं। वृद्ध संन्यासी शैलपूर्ण को भी बहिनों के पुत्रवती होनें का समाचार मिला। वे भी नवजात शिशुओं को देखने के लिए आये। अनुभवी संन्यासी नें दोनों शिशुओं के शरीर-लक्षणों को देखा। कान्तिमती के पुत्र के शुभ लक्षणों को देख शैलपूर्ण अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्हें स्मरण हो आया कि सन्त नाम्मालवर ने जिस मसीहा के जन्म लेने की भविष्यवाणी की थी, तथा बृहत्पुराण, पद्मपुराण, नारदपुराण आदि ग्रन्थों में कलियुग में जिस

शेषावतार लक्ष्मण के अवतार के संकेत दिये गये हैं, यह वालक वही है। अतः उन्होंने कान्तिमती के पुत्र का नाम रखा रामानुज तथा द्युतिमती के पुत्र का नाम गोविन्द रखा गया।

शुक्ल प्रतिपदा के चन्द्रमा की भाँति रामानुज बढ़ने लगे। उनके अन्नप्राशन मुण्डन कर्ण छेदन् आदि संस्कार होते गये। शीघ्र ही उनका उपनयन कर विद्यारम्भ भी करा दिया गया। शैशव काल से ही उनकी अद्वितीय प्रतिभा तथा विलक्षण बुद्धिमत्ता के लक्षण प्रकट होने लगे थे। वे श्रुतिधर थे। एक बार गुरु जो वता देते, वह उन्हें तुरन्त याद हो जाता। अपनी इस बिलक्षण बुद्धि के कारण वे अफ्ने शिक्षकों के अत्यन्त प्रिय विद्यार्थी रहे। यही नहीं, साधु-संग और साधु-सेवा की ओर भी बाल्यकाल से ही उनकी रुचि रही।

उन दिनों कांची नगरी में 'कांचीपूर्ण' नाम के एक सिद्ध सन्त रहा करते थे। यद्यपि जन्म से वे शूद्र थे, तथापि उनकी भक्ति और साधुता के कारण बड़े बड़े विद्वान् ब्राह्मणगण भी उनका सम्मान करते तथा उनके उपदेश ग्रहण करते। कांची नगरी से थोड़ी दूर पर पूनमल्ले नाम का एक ग्राम था। इस गाँव का रास्ता रामानुज के गाँव से होकर जाता था। महात्मा कांचीपूर्ण प्रति दिन इसी रास्ते से होकर कांची से पूनमल्ले देवता की पूजा करने जाया करते। एक दिन सन्ध्या समय जब रामानुज पाठशाला से लौट रहे थे, उन्होंनें इस दिव्य पुरुष को

देखा। उस दिव्य विभूति के कान्तिमय व्यक्तित्व को देख रामानुज मुग्ध हो गये। उन्होंने बड़ी श्रद्धा से उन्हें प्रणाम किया। महात्मा कांचीपूर्ण भी इस अद्वितीय सुलक्षण युक्त बालक को देख अत्यन्त प्रसन्न हुए। रामानुज ने सन्त को अपने घर भोजन का निमंत्रण दिया। कांचीपूर्ण नें भी बालक का आग्रह स्वीकार कर लिया। भोजन के पश्चात् रात्रि में रामानुज उनकी चरण-सेवा करते रहे तथा उनसे अनेक आध्यात्मिक उपदेश सुनते रहे। उस दिन सें उन दोनों में एक अटूट सम्बन्ध जुड़ गया।

(२)

जीवन के पन्द्रह वसन्त पार कर रामानुज ने तारुण्य की देहलीज पर पैर रखा। उनके पिता केशवाचार्य और और माता कान्तिमती पुत्र-वधू का मुँह देखने के लिए लालायित हो उठे। शीघ्र ही एक रूपवती कन्या से उनका बिवाह कर दिया गया। पुत्र-वधू का मुँह देख माता पिता बड़े प्रसन्न हुए। घर में कई दिनों तक आनन्दोत्सव मनाया जाता रहा।

किन्तु विधि का विधान अगोचर है! कहीं एक फूल खिलता है, तो कहीं दूसरा फूल मुरझाकर मिट्टी में मिल जाता है। जब धरा का एक भाग प्राची में उदित बालरवि की किरणों से आलोकित हो उठता है, तब दूसरा भाग निविड़ अन्धकार के कराल गाल में समा जाता है। यही संसार की नियति है!

विवाहोत्सव के पश्चात् अभी एक महीना ही समाप्त

हो पाया था कि केशवाचार्य बीमार हो गये। चिकित्सा हुई, किन्तु रोग बढ़ता ही गया और केशवाचार्य पत्नी, पुत्र तथा पुत्र-वधू को बिलखता छोड़ परलोक सिधार गये। सारा परिवार शोक के सागर में डूब गया। किन्तु रामानुज ने विवेक का सहारा लिया और अपनी माँ को ढाढ़स बँधाया।

पेरमबुदुर गाँव अब रामानुज-परिवार को अच्छा न लगता। कान्तिमती और रामानुज को केशवाचार्य की बहुत याद आती। अतः उन्होंने अपना गाँव छोड़ कांचीपुरम् में रहने का निश्चय किया। रामानुज शीघ्र ही जननी और पत्नी को ले कांचीपुरम् में रहने चले आये।

उन दिनों कांचीपुरम् में यादवप्रकाश† नाम के एक उद्भट विद्वान् आचार्य रहा करते थे। वे भाष्यकार भगवान् शंकराचार्य के अद्वैत सिद्धान्त के अनुयायी थे। उनकी विद्वता की कीर्ति चारों ओर फैल रही थी। दूर दूर से विद्यार्थी उनके पास पढ़ने के लिए आते। शुद्धाद्वैत सिद्धान्त का उन्होंने विशेष अध्ययन किया था तथा उसी का वे प्रचार करते। अद्वैत सिद्धान्त में उनकी इतनी पैठ थी कि उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त आज भी 'यादवी सिद्धान्त' के नाम से जाना जाता है। यादवप्रकाश शद्धाद्वैतवादी थे, अतः वे साकार ईश्वर को स्वीकार नहीं करते थे।

अपनी अदम्य ज्ञानपिपासा से प्रेरित हो रामानुज भी यादवप्रकाश के विद्यार्थी हो गये। किन्तु रामानुज का हृदय तो भक्ति से सराबोर था। वे साकार ईश्वर की

उपासना और सेवा-पूजा के मानो मूर्त विग्रह थे। यादव के अद्वैतवादी सिद्धान्त रामानुज को न रुचते। गुरु की शिक्षा में उन्हें असंगति तो लगती, किन्तु सम्मान और श्रद्धावश वे उसे स्पष्ट रूप से गुरु के सम्मुख प्रकट न करते।

एक दिन प्रातःकाल का अध्ययन समाप्त कर सब विद्यार्थी स्नान-भोजन आदि के लिए चले गये। यादवप्रकाश† ने रामानुज से अपने शरीर पर तेल मल देने के लिए कहा। रामानुज गुरु के शरीर में तेल की मालिश करने लगे। उसी समय एक दूसरा विद्यार्थी भी वहाँ आकर बैठ गया। वह प्रातःकाल के पाठ के कुछ कठिन अंशों को समझना चाहता था। छान्दोग्य उपनिषद् के प्रथम अध्याय के छठे खण्ड का सातवाँ मंत्र शिष्य की समझ में नहीं आया था, जिसमें कहा गया है—"तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदित उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद।"

शिष्य 'कप्यासम्' शब्द का अर्थ न समझ सका था। यादवप्रकाश ने आचार्य शंकर के भाष्यानुसार शिष्य को बताया कि उस स्वर्णमय पुरुष की आँखें उन कमलों के समान हैं, जो बन्दर की गुदा के समान लाल हैं।

---

† दशनामी संन्यासी सम्प्रदाय के गोवर्धन मठ के ब्रह्मचारी-गण 'प्रकाश' उपनाम ग्रहण करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है, यादव उसी मठ के ब्रह्मचारी थे। परवर्ती काल में उन्होंने रामानुज से संन्यास ग्रहण किया था।

उस परम पुरुष की आँखों की तुलना बन्दर की गुदा जैसी हेय वस्तु से सुन रामानुज का कोमल हृदय द्रवित हो उठा। उनकी आँखों से आँसू बहने लगे। गरम आँसुओं की कुछ बूँदें यादवप्रकाश के शरीर पर भी गिरीं। वे सिर घुमाकर देखने लगे कि गरम जल की बूँदें कहाँ से आयीं ? देखा तो उसके प्रिय शिष्य रामानुज की आँखों से आँसू बह रहे थे। आश्चर्यचकित हो उन्होंने पूछा, "बेटा! तू रो क्यों रहा है ? तुझे क्या कष्ट है ?"

अब रामानुज से न रहा गया। उन्होंने कहा, "गुरुदेव ! आपके द्वारा छान्दोग्य उपनिषद् के इस मंत्र की ऐसी ओछी व्याख्या सुनकर दुख हुआ। जो परमात्मा असीम सुन्दर और सभी गुणों के आगार हैं, उनकी आँखों की तुलना बन्दर की गुदा से करना कितना बड़ा पाप है !"

यादवप्रकाश की त्योरियाँ बदल गयीं। उन्होंने सरोष कहा, "रामानुज ! मुझे भी तुम्हारी घृष्टता से बड़ा दुख है। मैंने यह व्याख्या अपने मन से नहीं दी है, भगवान् आदि शंकराचार्य ने स्वयं उस श्लोक पर वैसा भाष्य रचा है। लगता है तुम आचार्य शंकर से भी अधिक बुद्धिमान हो। क्या तुम इससे भिन्न कोई उत्तम व्याख्या बता सकते हो ?"

रामानुज ने आचार्य के चरणों में प्रणाम कर नम्रतापूर्वक कहा, "गुरुदेव ! आपके आशीर्वाद से सव कुछ हो सकता है। 'कप्यासम्' शब्द का ऐसा अर्थ भी तो हो सकता है——कम्=जलम्——जलम् पिबतीति कपिः अर्थात् सूर्य, तथा अस् धातु का अर्थ विकसित होना भी है। जो

सूर्य से विकसित हो, वह अर्थात् कमल। अत: उस मंत्र का अर्थ होगा--'उस स्वर्ण पुरुष की आँखें वैसी ही सुन्दर हैं, जैसे कि सूर्य की किरणों से खिला हुआ कमल'।"

रामानुज की इस व्याख्या को सुन यादवप्रकाश नें कहा, "यह उस मंत्र का सीधा अर्थ नहीं है। यह तो केवल व्युत्पत्तिगत अर्थ है। जो हो, तुमने यहाँ व्याख्या की कुशलता दिखलायी है।"

इस घटना से यादवप्रकाश ने समझ लिया कि रामानुज आद्य शंकराचार्य के अद्वैत सिद्धान्त का उतना भक्त नहीं है। फलस्वरूप अपने इस मेधावी शिष्य के प्रति यादव का प्रेम कम हो गया।

दूसरे एक दिन यादवप्रकाश तैत्तिरीय उपनिषद् के 'सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म' इस मंत्र की व्याख्या कर रहे थे। उन्होंने कहा, "ब्रह्म सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप और अनन्त है।" रामानुज ने पुन: इस व्याख्या पर आपत्ति की और कहा कि ब्रह्म सत्यस्वरूप नहीं है, वरन् उसमें सत्य का गुण है, उसमें असत्य नहीं है। उसी प्रकार वह ज्ञानस्वरूप नहीं है, बल्कि उसमें ज्ञान है तथा अज्ञान का अभाव है। उसमें अनन्तता का गुण है, अर्थात् वह सान्त नहीं है। ब्रह्म में ये सभी गुण हैं, किन्तु ब्रह्म स्वयं गुणस्वरूप नहीं है—जैसे, यह शरीर मेरा है, किन्तु मैं शरीर नहीं हूँ।"

रामानुज की इस व्याख्या ने यादवप्रकाश की क्रोधाग्नि में घी का कार्य किया। क्रोधित हो उन्होंने रामानुज से कहा, "यदि तुझे मेरे सिद्धान्त मान्य नहीं हैं, तो तू मेरे

पास पढ़ने क्यों आता है ? जाकर अपनी पाठशाला खोल अपने सिद्धान्तों का प्रचार क्यों नहीं करता ?"

अद्वैत सिद्धान्त की अपेक्षा अपनी विद्वत्ता और ख्याति के प्रति यादवप्रकाश का अधिक प्रेम था। रामानुज की तीव्र मेधा एवं अद्वितीय प्रतिभा ने यादव के हृदय में ईर्ष्या की अग्नि धधका दी। इस बीच रामानुज ने 'सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म' इस मंत्र पर एक छोटी सुन्दर व्याख्या लिखी। इस व्याख्या से विद्वानों में उनकी बड़ी प्रशंसा हुई। अब यादवप्रकाश के मन में भय हुआ कि रामानुज के सामने मेरी विद्वत्ता कहीं कम न हो जाय, उसकी प्रतिभा के कारण मेरी ख्याति मन्द न पड़ जाय। इस भय और ईर्ष्या से यादव तिलमिला उठे।

विद्वत्ता के साथ मनुष्य के जीवन में यदि त्याग और आध्यात्मिक साधना न हो, तो अज्ञान से मुक्त कर उसे अमरत्व प्रदान करनेवाली यह विद्वत्ता उसके पतन और विनाश का भी कारण बन जाती है। ईर्ष्याविदग्ध यादव-प्रकाश के मन में कुटिलता जागी——रामानुज को पाठशाला से निकाल देने मात्र से ही मैं निश्चिन्त नहीं हो सकता ! इस कण्टक को अपने रास्ते से हटा देना होगा ! ! रामानुज को समाप्त कर देना होगा ! ! !

यदि विवेक जागृत न रहा, तो मन में कुविचार आते ही बुद्धि उसे क्रियान्वित करने का षड़यंत्र रचने लगती है। यादव ने अपने कुछ अन्धविश्वासी शिष्यों को बुलाया तथा अपने मन की कुटिल एवं जघन्य योजना को सिद्धान्त-

रक्षा के छद्म से उनके सामने रखा। उन्होंने कहा, "मेरे प्रिय शिष्यो! तुम यह देख ही रहे हो कि रामानुज कितनी धृष्टता से भगवान् शंकराचार्य के अद्वैत सिद्धान्तों का खण्डन करता है। यही नहीं, वह विपरीत सिद्धान्तों का प्रतिपादन और प्रचार भी कर रहा है। इस कारण अद्वैत सिद्धान्त संकट में पड़ गया है। लोगों की उस ओर रुचि भी कम होती जा रही है। अद्वैत सिद्धान्त की रक्षा का एकमात्र उपाय यही है कि उस सिद्धान्त के इस धृष्ट विरोधी को रास्ते से हटा दिया जाय।"

इतना कह यादवप्रकाश ने एक बार शिष्यों की ओर देखा उनकी मुखमुद्रा से प्रोत्साहित हो आचार्य ने षड़यंत्र सामने रखा---"सुनो, शीघ्र ही हम सब लोग पुण्यतोया गंगा में स्नान करने काशीधाम की यात्रा करेंगे। तुम लोग रामानुज को भी इस तीर्थयात्रा के लिए आमंत्रित करो। मार्ग में बहुत बीहड़ वन और एकान्त स्थान हैं। वहीं तुम लोग अवसर देख रामानुज का काम तमाम कर देना। फिर हम लोग गंगा-स्नान कर लौटेंगे और कांची में लोगों से कह देंगे कि गंगा में डूब जाने से रामानुज की मृत्यु हो गयी।

षड़यंत्र के अनुसार रामानुज के इन कुटिल सहपाठियों नें उनके सामनें काशी-यात्रा का प्रस्ताव रखा। रामानुज आचार्य और सहपाठियों के साथ जाने को सहर्ष प्रस्तुत हो गये। उनके साथ उनके मौसेरे भाई तथा प्रिय सखा गोविन्द भी हो लिये। यात्रादल चला। कुछ दिनों की यात्रा के पश्चात् बीहड़ वन आया। यादवप्रकाश को अपना

जघन्य षड़यंत्र सफल करने का यह उचित स्थान लगा। उन्होंने दुष्ट शिष्यों को संकेत दिया। वे लोग रामानुज की हत्या की व्यवस्था करने लगे। किसी प्रकार गोविन्द के कानों में भी यह भनक पड़ी। उनका हृदय काँप उठा। उन्होंने निश्चय किया कि चाहे जैसे हो, रामानुज को यहाँ से भगा देना चाहिए, अन्यथा उनकी प्राण-रक्षा नहीं होगी। शौचादि के वहाने वे रामानुज को एक ओर ले गये और उन्हें षड़यंत्र की बात वताते हुए बोले, "तुम यहाँ से तुरन्त भाग जाओ, अन्यथा तुम्हारे प्राण नहीं वचेंगे। मैं शीघ्र जाकर अन्य सहपाठियों से मिल जाता हूँ, जिससे वे लोग समझेंगे कि तुम भी पीछे आ रहे हो। इस बीच तुम जितना शीघ्र हो सके, यहाँ से भाग जाओ।"

रामानुज को षड़यंत्र की बात बता गोविन्द शीघ्रता-पूर्वक अपने सहपाठियों की ओर चल पड़े। षड़यंत्र का समाचार सुन रामानुज कुछ क्षणों के लिए स्तब्ध रह गये। उन्हें कुछ सूझ न पड़ा। भय भी लग रहा था। किन्तु शीघ्र ही वे सन्तुलित हो गये। उन्हें लगा कि गोविन्द को अकेले आते देख कहीं उनके साथी उन्हें ढूँढ़नें न आ जायँ। यह सोच उन्होंने मन ही मन भगवान् वरदराज का स्मरण किया और रास्ता छोड़ गहन वन की ओर भागे। उनका सन्देह ठीक निकला। गोविन्द को अकेला लौटते देख उनके साथियों ने रामानुज के विषय में पूछा और उनके यह कहने पर कि रामानुज पीछे आ रहे हैं, वे लोग उसी ओर चल पड़े तथा जोर जोर से

रामानुज का नाम लेकर पुकारने लगे। उधर रामानुज और भी तेजी से जंगल के भीतर भागने लगे। उनके साथियों ने थोड़ी देर उन्हें इधर-उधर ढूँढ़ा, किन्तु जब वे न मिले, तब वे सब मन ही मन यह सोच प्रसन्न हुए कि चलो, किसी हिंसक पशु ने रामानुज का काम तमाम कर दिया है और अब उन लोगों को उसकी हत्या का दोष न लेना पड़ेगा। शिष्यों ने लौटकर यादवप्रकाश को रामानुज के न मिलने का समाचार दिया। मन में तो यादव प्रसन्न हुए, किन्तु वहाँ गोविन्द को देख वे मगर के आँसू बहाने लगे और शिष्यों के साथ काशीधाम की ओर चल पड़े।

इधर रामानुज बीहड़ जंगल के भीतर भागते भागते थककर चूर हो गये। दिन भी ढल रहा था। सन्ध्या रात्रि के निविड़ अन्धकार में समाने लग गयी थी। थके-माँदे रामानुज एक पेड़ के नीचे बैठ गये और विश्राम करने लगे। तभी उन्होंने देखा कि बीहड़ जंगल के भीतर से एक व्याध-दम्पति उनकी ओर आ रहा है। पास आकर व्याध-दम्पति ने इस अद्भुत सुन्दर सुकुमार युवक को देखा। व्याध ने कौतूहल-वश रामानुज से पूछा, "युवक! तुम इतने सुकुमार हो और तुम्हारी वेशभूषा से लगता है कि तुम ब्राह्मण हो। फिर यहाँ हिंसक पशुओं से भरे इस वन में तुम कैसे आ गये?"

रामानुज ने कहा, "व्याधराज! मैं कांचीनगरी जाना चाहता था, किन्तु रास्ता भूलकर इस बीहड़ वन में भटक गया हूँ।"

व्याध ने स्नेहपूर्वक रामानुज के कन्धे पर हाथ रखकर कहा, "चिन्ता न करो। हम भी उसी ओर जा रहे हैं। हमारे साथ चले चलो, हम तुम्हें रास्ता दिखा देंगे।"

रामानुज उनके साथ हो लिये। उन्हें यह स्मरण था कि कई दिनों का मार्ग तय कर वे उस स्थान पर आये थे, अतः लौटने में भी समय लगेगा। व्याध-दम्पति और उनके नव सहयात्री सारी रात चलते रहे। भोर होने को आया। बीहड़ वन समाप्त हो गया। तभी व्याध-पत्नी ने कहा, "मुझे बड़ी प्यास लग रही है। कहीं से जल लाओ।" रामानुज ने कहा, "आप लोग यहीं विश्राम करें, मैं जाकर देखता हूँ यदि कहीं आसपास जल हो।" रामानुज थोड़ी ही दूर गये थे कि उन्हें कुएँ पर जल भर रही पनिहारिनों की आवाज सुनायी दी। वे वहाँ पहुँचे, पात्र में जल लिया और उल्टे पाँव उस स्थान पर आये, जहाँ व्याध-दम्पति को विश्राम करता छोड़ गये थे। किन्तु उन्हें वहाँ कोई न दिखा। उन्होंने आस-पास ढूँढ़ा, पर व्याध-दम्पति का कहीं पता न चला। रामानुज आश्चर्य में पड़ गये। तब तक पौ फट चुकी थी। बालसूर्य की रक्तिम रश्मियों ने प्राची को गैरिक परिधान पहना दिया था। व्याध-दम्पति के न मिलने पर रामानुज लौटने को उद्यत हुए। पीछे मुड़ते ही उनकी दृष्टि कांचीपुरम् मंदिर के चमचमाते कलशों पर पड़ी। क्षण भर के लिए वे स्तब्ध रह गये। वे समझ न सके कि कहाँ खड़े हैं। पुनः एक बार उन्होंने मन्दिर

के चमचमाते कलशों की ओर देखा। कांचीनगरी के वही चिर-परिचित मन्दिर-कलश मानो हँस-हँसकर रामानुज का स्वागत कर रहे थे ! तब क्या रामानुज कांचीनगरी के द्वार पर ही खड़े थे ! रामानुज यंत्रवत् नगर की ओर चल पड़े। वही चिर-परिचित परिवेश-नगर के बाहर का कुआँ, परिचित पनिहारिनें। उन्हें अतीव आश्चर्य हुआ, क्योंकि जिस स्थान से वे भागे थे, वहाँ पहुँचने में उन्हें कई दिन लगे थे। फिर एक ही रात्रि में इतना लम्बा पथ तय कर वे कांची कैसे पहुँच गये ? बिना दैवी चमत्कार के तो यह कदापि सम्भव नहीं। वे व्याध-दम्पति कौन थे ? यह विचार आते ही रामानुज का हृदय गद्गद् हो उठा। उन्हें यह अनुभव हुआ कि उनके आराध्यइष्टदेव भगवान् विष्णु स्वयं भगवती लक्ष्मी के साथ व्याध-दम्पति के रूप में उनकी रक्षा करने के लिए आये थे तथा उन्होंने रामानुज को कांची नगरी के द्वार पर ला खड़ा कर दिया था ! श्रद्धा और भक्ति से उनका हृदय भर गया। आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगी।

(३)

रामानुज घर लौटे। उनकी माँ पुत्र-वियोग में दुखी हो रही थीं। बहिन को दुखी देख रामानुज की मौसी भी उनके पास आ गयी थीं। अकस्मात् अपने प्यारे बेटे रामानुज को द्वार पर देख माता आश्चर्यचकित रह गयीं। उन्हें अपनी आँखों पर विश्वास न हो रहा था। तभी रामानुज ने माँ' कहकर पुकारा और उनके चरणों में

प्रणाम किया। माँ ने अपने लाल को उठाकर छाती से लगा लिया। उनकी मौसी भी बड़ी प्रसन्न हुई। रामानुज ने उन लोगों से यादवप्रकाश के कुटिल षड़यंत्र तथा भगवान् वरदराज की कृपापूर्ण रक्षा की बात कही। साथ ही उन्होंने माँ ओर मौसी से प्रार्थना की कि वे लोग इस घटना की चर्चा किसी से न करें।

घर लौटकर रामानुज स्वयं ही शास्त्रों के अध्ययन में लग गये। लगभग तीन महीने पश्चात् यादवप्रकाश अपने शिष्यों के साथ कांचीपुरम् लौटे। वहाँ रामानुज को देख पहले तो उन्हें बहुत डर लगा कि कहीं उनके कुटिल षड़यंत्र की बात रामानुज को मालूम न हो गयी हो। किन्तु जब उन्हें रामानुज के व्यवहार में कोई अस्वाभाविकता न दिखी, तब ढाढ़स बँधा। यादव ने रामानुज के प्रति दिखावटी प्रेम प्रकट किया और कहा, "वन में तुम्हें ढूँढ़ने के लिए हम लोगों ने कितना कष्ट उठाया। अन्त में निराश हो हमें आगे चले जाना पड़ा।"

रामानुज ने गुरु के चरणों में प्रणाम किया और कहा, "गुरुदेव ! आपकी कृपा से ही मैं गहन वन से सुरक्षित लौट सका।"

रामानुज की गुरुभक्ति से यादवप्रकाश कुछ पसीजे। उन्होंने रामानुज से कहा, "आज से पुनः तुम मेरी पाठशाला में पढ़ सकते हो।" रामानुज यादव के पास फिर से पढ़ने लगे।

यादवप्रकाश मंत्र-तंत्र विद्या में भी निपुण थे। एक

वार कांचीपुर की राजकुमारी को एक ब्रह्मराक्षस ने पकड़ लिया। आसपास से कई मंत्रविद् और तांत्रिक बुलाये गये, किन्तु कोई भी ब्रह्मराक्षस को राजकुमारी के सिर से न उतार सका। अन्त में राजा ने यादवप्रकाश को बुलवाया। यादव अपने शिष्यों के साथ राजमहल में पहुँचे। उन्हें देख राजकुमारी के शरीर में प्रविष्ट ब्रह्मराक्षस खूब हँसा और बोला, "यादव! मैं तुम्हारी मंत्रविद्या से नहीं डरता। मुझ पर तुम्हारी विद्या का कोई प्रभाव नहीं होगा।" फिर भी यादव ने मंत्रों का प्रयोग किया, किन्तु सचमुच ही उनके मंत्रों का ब्रह्मराक्षस पर कोई प्रभाव नहीं हुआ। अन्त में ब्रह्मराक्षस ने कहा, "यदि रामानुज अपने दोनों चरण इस राजकुमारी के सिर पर रख मुझे कृतार्थ करें, तो मैं राजकुमारी को छोड़कर चला जाऊँगा।" राजा वहाँ उपस्थित थे, अतः न चाहकर भी यादव को अपने शिष्य रामानुज को राजकुमारी के मस्तक पर चरण रखने की आज्ञा देनी पड़ी। रामानुज के चरणों का स्पर्श होते ही वह ब्रह्मराक्षस राजकुमारी को छोड़कर भाग गया। राजकुमारी स्वस्थ हो उठी। इस घटना से रामानुज की ख्याति चारों ओर फैल गयी।

यादवप्रकाश मन ही मन ईर्ष्या से जल उठे। किन्तु उन्होंने कुछ कहा नहीं। रामानुज पहले के ही समान अपने गुरु के पास अध्ययन करते रहे। एक दिन यादव "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" तथा "नेह नानास्ति किंचन" इन औपनिषदिक मंत्रों की अद्वैत-परक व्याख्या कर रहे थे।

रामानुज को वह न रुचा। उन्होंने इन मंत्रों की दूसरे प्रकार से व्याख्या की। उसे सुन यादव बड़े क्रुद्ध हुए और रामानुज से बोले, "यदि तुझे मेरी व्याख्या अच्छी नहीं लगती, तो तू मेरे पास पढ़ने न आया कर।" रामानुज ने गुरु के चरणो में प्रणाम किया और घर लौट आये।

दूसरे दिन प्रातःकाल जब रामानुज स्वयं ही शास्त्रों का अध्ययन कर रहे थे, सन्त कांचीपूर्ण उनके घर आये। उन्हें देख रामानुज अत्यन्त प्रसन्न हुए। उनके चरणों में प्रणाम कर उन्होंने कहा, "महाराज! आपने तो सुना ही होगा कि आचार्य यादवप्रकाश ने मुझे पाठशाला से निकाल दिया है। भगवान् की कृपा से आप यहाँ पधारे हैं। मुझ अकिंचन को अपने चरणों में स्थान दीजिए और मुझे अपना शिष्य वना लीजिए।" यह कह रामानुज सन्त कांचीपूर्ण के चरणों में गिर पड़े। सन्त ने उन्हें उठाकर छाती से लगा लिया औरकहा, "रामानुज! मैं एक शूद्र हूँ और तुम हो ब्राह्मण। मैं तुम्हें कैसे दीक्षा दे सकता हूँ? फिर तुम शास्त्रज्ञ विद्वान् पण्डित हो और मैं एक अपढ़ गँवार! भला मैं तुम्हें क्या शिक्षा दे सकता हूँ? ईश्वर के प्रति तुम्हारी भक्ति देख मैं वहुत प्रसन्न हूँ। आज से प्रतिदिन तुम एक कलश जल भगवान् वरदराज की पूजा के लिए भर लाया करो। इससे यथासमय वरदराज तुम्हारी इच्छा पूर्ण करेंगे।" सन्त की आज्ञानुसार उस दिन से रोज रामानुज वरदराज की पूजा के लिए जल भरकर ले जाने लगे।

(क्रमशः)

●

प्रश्न – देवी-देवताओं के दर्शन को क्या projection of unconscious complexes (अचेतन ग्रन्थियों का आरोपण) कहा जा सकता है ?

—**सुखीराम यादव, लभराखुर्द**

उत्तर – देवी-देवताओं के यथार्थ दर्शन को मैं अचेतन ग्रन्थियों का आरोपण नहीं मानता। देवी-देवता की अपनी धारणा मैं आपको समझा दूँ। ये शब्द संस्कृत धातु 'दिव्' से व्युत्पन्न हुए हैं, जिसका अर्थ होता है चमकना या प्रकाश करना। 'देव' या 'देवता' का तात्पर्य होता है 'प्रकाश देनेवाला'। इन्द्रियों को, यानी इन्द्रियों की शक्तियों को संस्कृत साहित्य में 'देव' का विशेषण दिया जाता है, क्योंकि इन्द्रियों से हमें ज्ञान होता है और ज्ञान प्रकाश देता है। अत: देवता का तात्पर्य उस सूक्ष्म शक्ति से है, जिसकी सूक्ष्मता तो विचार की सी है, पर जिसकी गहराई विचार की गहराई की अपेक्षा अधिक होती है। वह सूक्ष्म शक्ति का एक बोध है। उदाहरण के लिए, गुरुत्वाकर्षण को ले लें। यह आकर्षण भौतिक रूप से न्यूटन से पूर्व भी विद्यमान था, पर लोगों को तब उसका पता नहीं था। न्यूटन ने उसका अनुभव किया, उसे देखा और आज वह जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण सत्य बना हुआ है। तो, जैसे

न्यूटन को गुरुत्वाकर्षण की स्थूल शक्ति का बोध हुआ, उसी प्रकार मन के धरातल पर मनुष्य को सूक्ष्म शक्ति का बोध हुआ करता है। इसी को 'देव-दर्शन' की संज्ञा दी गयी है। प्रकृति के सूक्ष्म नियम भी वेदों में 'देव' शब्द से अभिहित हुए हैं। वैज्ञानिक जब अन्तरिक्ष के, इस विश्व-प्रपच के अनैन्द्रिक सत्यों का बोध के द्वारा साक्षात्कार करता है, तो ऐसा साक्षात्कार भी 'देव-दर्शन' कहकर पुकारा जा सकता है। आइन्स्टीन के सूक्ष्म चेतना-बोध इसी श्रेणी में आते हैं।

पर सामान्यतया हम जिसे देव या देवी कहते हैं, उसका बोध भावात्मक अधिक होता है। हिन्दू अध्यात्म ग्रन्थों में शिव, विष्णु, काली, दुर्गा आदि जिन देवी-देवताओं की धारणा है, वे सभी जगत् के किसी न किसी सूक्ष्म सत्य के प्रतीक हैं। साधना के द्वारा ये प्रतीक अपना वास्तविक स्वरूप प्रकट कर देते हैं और वही देव-दर्शन की अवस्था होती है। उदाहरण के लिए, काली काल की शक्ति है, वह दिगम्बरा है, क्योंकि काल का वसन देश यानी आकाश यानी अम्बर ही होता है। काली की समुचित उपासना करने से काल के सूक्ष्म नियम उद्घाटित होते हैं और जीवन में काल का द्वन्द्व समाप्त हो जाता है। श्रीरामकृष्ण देव काली की उपासना से कालान्तर्गत सत्यों के अनुभवी तो बने ही, साथ ही वे कालातीत सत्य के भी द्रष्टा बने।

बहुत से लोगों को कोई रूप दिखायी देता है। यदि यह रूप किसी बोध का उद्घाटन न करे, तो उसे अचेतन ग्रन्थियों का आरोपण अवश्य कहा जा सकता है। बहुलांश में लोग इसी के शिकार होते हैं——वे तरह तरह के रूपों का दर्शन करते हैं, पर उससे उनके जीवन में किसी प्रकार का परिवर्तन साधित नहीं होता। इनमें आत्मछलो, कपटो और पाखण्डो अधिक होते हैं। यथार्थ देव या देवी दर्शन वह है, जिसका प्रभाव हमारे जीवन पर पड़ता है और उसे बदल देता है।

इस सन्दर्भ में 'रीडर्स डाइजेस्ट' के अप्रैल १९७५ अंक के प्रथम लेख 'I died at 10.52' को पढ़ना लाभदायक होगा।

अकाल सेवा कार्य

दुर्ग जिले के भीषण सूखाग्रस्त पाटन विकासखण्ड में तथा रायपुर जिले की महासमुन्द तहसील में रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर द्वारा संचालित राहत कार्य तीव्र गति से चल रहे हैं। 'विवेक ज्योति' के पिछले अंक में हमने यह सूचित किया था कि पाटन विकासखण्ड के औंरी ग्राम में विगत ५ मार्च से एक सेवा-केन्द्र खोला गया है। यह सेवा-केन्द्र ४७ ग्रामों के लगभग ११५० अपंगों और अनाश्रितों को प्रतिदिन निःशुल्क अनाज वितरित कर रहा है। इसके अतिरिक्त, इसी विकासखण्ड के आमापेंड्री, करसा, औंरी, गोंड़पेंड्री तथा अचानकपुर इन पाँच गाँवों में तालाब का निर्माण-कार्य चला हुआ है। इन तालाबों का क्षेत्रफल क्रमशः ११, ५.३३, ६, ७, और ४ एकड़ है। पहले इन तालाबों से क्रमशः २५, २५, ३५, २० और २५ एकड़ भूमि में सिंचाई हुआ करती थी। इनका निर्माण-कार्य पूर्ण हो जाने पर ये क्रमशः १००, ८०, १०० ८० और ६० एकड़ भूमि को सिंचित करेंगे। इस प्रकार इन राहत कार्यों से तालाबों द्वारा अधिक मात्रा में निस्तार का कार्य तो होगा ही, साथ ही उनकी सिंचाई-क्षमता में भी लगभग ३०० एकड़ (२५० प्रतिशत) की वृद्धि हो जायगी। इसके अतिरिक्त, ७ गाँवों के कुओं को भी गहरा किया जा रहा है। इस प्रकार पाटन विकासखण्ड में किये जानेवाले इन समस्त कार्यों पर ३ लाख २ हजार रुपये का व्यय अनुमानित है। ये कार्य जुलाई के अन्त तक पूर्ण हो जाएँगे।

रायपुर जिले की महासमुन्द तहसील में घोड़ारी घाट को केन्द्र बना, ५८ गाँवों के अपंगों और अनाश्रितों पर आश्रम पहले ही २७०००) व्यय कर चुका है। लगभग ९०००) के कम्बल और धूसे बाँटे गये हैं तथा महानदी की एक धारा के प्रत्यावर्तन पर २४०००) खर्च किये गये हैं। २५ अप्रैल से घोड़ारी घाट के बदले तुमगाँव में निःशुल्क अनाज-वितरण का कार्य चला हुआ

हैं, जिसमें लगभग ८०० लोग प्रतिदिन राशन प्राप्त करते हैं। ३७ गाँवों के अपंगों और निराश्रितों को इस राहत कार्य का लाभ प्राप्त होता है। जून के अन्त तक इस अन्न-वितरण योजना पर ५००००) और व्यय होंगे। स्मरणीय है कि यह योजना पहले घोड़ारी घाट को केन्द्र बना ८ अक्तूबर, १९७४ से शुरू हुई थी।

फिर, महासमुन्द तहसील के भी तीन स्थानों पर तालाब-निर्माण का कार्य चला हुआ है--(१) महासमुन्द का बँधवा तालाब, (२) मुढ़ेना तथा (३) सरईपाली का तालाब। सरईपाली बागबाहरा-पिथौरा सड़क पर एक छोटा सा गाँव है। इन तीनों तालाबों पर कुल २ लाख ५ हजार रुपये का व्यय अनुमानित है। इन तीनों का क्षेत्रफल क्रमश: २९, ११ और ३ एकड़ है। पहले बँधवा तालाब से लगभग १०० एकड़ भूमि की सिंचाई होती रही है। मुढ़ेना का तालाब तो नया ही बन रहा है। सरईपाली तालाब की कोई सिंचाई-क्षमता नहीं थी। अब इनका कार्य पूर्ण होने पर ये तीनों तालाब निस्तार का प्रयोजन सिद्ध करने के साथ साथ क्रमश: २००, १५० और २५ एकड़ भूमि में सिंचाई भी करेंगे। इस प्रकार रायपुर जिले में किये जा रहे राहत कार्य भी तालाबों की सिंचाई-क्षमता में ३०० एकड़ (२७५ प्रतिशत) की वृद्धि करेंगे। रायपुर जिले के इन समस्त राहत कार्यों पर कुल ३ लाख १५ हजार रुपये का व्यय अनुमानित है। ये कार्य भी जुलाई के अन्त तक पूरे हो जायेंगे।

इस तरह रायपुर और दुर्ग जिलों में संचालित अपने राहत कार्यों पर आश्रम लगभग ६ लाख १७ हजार रुपये खर्च करेगा।

इन राहत कार्यों ने लगभग ३,२०० मजदूरों को काम दिया है तथा २,३०० अपंगों और अनाश्रितों को प्रतिदिन भोजन। इनका लाभ १४२ गाँवों के लोगों को प्राप्त हो रहा है।

इन कार्यों के लिए उल्लेखनीय सहायता निम्नलिखित संस्थाओं

से प्राप्त हुई है--

(१) 'केअर' (CARE) नामक अमरीकन संस्था द्वारा ९२ मीट्रिक टन (९२,००० किलो) दलिया--'काम के लिए अनाज योजना' के अन्तर्गत।

(२) 'आक्सफैम' (OXFAM) नामक इंग्लिश संस्था द्वारा २९,५४०) नगद तथा १४ मीट्रिक टन (१४,००० किलो) गेहूँ--'काम के लिए अनाज योजना' के अन्तर्गत।

(३) 'कैथोलिक रिलीफ सर्विसेज', नयी दिल्ली से २०,०००) नगद, पहली किस्त के रूप में।

(४) प्रधान मंत्री सूखा राहत कोष, नयी दिल्ली से ५००००) नगद।

आश्रम द्वारा चलाये जानेवाले विभिन्न राहत कार्यों में श्रमिकों को रोजी का आधा अनाज के रूप में प्राप्त होता है और शेष आधा नगद के रूप में। 'केअर' और 'आक्सफैम' द्वारा प्रदत्त अनाज केवल श्रमिकों को ही देने के लिए है। 'केअर' का दलिया दुर्ग जिले में चल रहे राहत कार्यों के श्रमिकों को दिया जा रहा है और 'आक्सफैम' का गेहूँ रायपुर जिले में चल रहे राहत कार्यों के श्रमिकों को। नगद राशि की व्यवस्था आश्रम अपने साधनों से कर रहा है। फिर, अपाहिजों और अनाश्रितों पर किये जानेवाले व्यय की व्यवस्था भी आश्रम के अपने साधनों द्वारा ही हो रही है। उपर्युक्त संस्थाओं के दानों को छोड़, आश्रम को राहत कार्य के लिए कुल ३॥ लाख रुपये की व्यवस्था करनी है, जिसमें उसने अपने उदार दानदाताओं के सहयोग से २॥ लाख रुपये की व्यवस्था कर ली है। शेष एक लाख रुपये की व्यवस्था और करनी है, जिसके लिए हम उदारचेता व्यक्तियों से सहयोग की अपील करते हैं।

●

Registered with the Registrar of Newspapers
for India under No. RN 7764/63.

श्रीरामकृष्ण उवाच

शास्त्र कितना पढ़ोगे ? केवल विचार करने से क्या होगा ? पहले उन्हें (भगवान् को) पाने की कोशिश करो। गुरु के वचनों पर विश्वास कर कुछ साधना करो। यदि गुरु न हों, तो व्याकुल होकर प्रार्थना करो। वे कैसे हैं—यह वे ही जना देंगे।

पोथी पढ़कर भला क्या जानोगे ? जब तक हाट में पहुँचो नहीं, तब तक दूर से केवल हो-हल्ला सुन पड़ता है। हाट में पहुँचने पर और एक तरह की आवाज आती है। तब स्पष्ट देख सकोगे, सुन सकोगे। 'आलूलो' 'पैसा दो' यह सब स्पष्ट सुन सकोगे। पोथी पढ़कर ठीक अनुभव नहीं होता। बहुत अन्तर है। उनके दर्शन कर लेने पर पोथी-शास्त्र, साइंस (Science)—ये सब घास-फूस मालूम होते हैं।

बड़े बाबू के साथ बातचीत जरूरी है। उनके कितने मकान हैं, कितने बाग-बगीचे हैं, कम्पनी के कितने कागज हैं, यह सब आगे से जानने के लिए इतना छटपटा क्यों रहे हो ? नौकरों के पास जाने से वे खड़ा ही नहीं रहने देंगे—कम्पनी के शेयर की बात बताना तो दूर ! पर येन-केन-प्रकारेण यदि बड़े बाबू के साथ भेंट कर लो—चाहे धक्का खाकर ही हो या हाता लाँघकर—तो वे ही तुम्हें बता देंगे कि उनके कितने मकान, बाग-बगीचे और कम्पनी के कागज हैं। बाबू के साथ बातचीत होने पर देखोगे, नौकर-चाकर-दरबान सब तुम्हें सलाम ठोकेंगे !

— २६ अक्तूबर, १८८४

COVER PRINTED AT :- SHIVRAJ LITHO NAGPUR